से भी दुरुह और अबूझ हैं। यह साहित्य की प्रमुख विधा काव्य का ह्रास है अथवा विकास?

- कविता के बारे में यह सवाल बहुत पुराना है।कविता छंद के बिना लिखी ही नहीं जा सकती। जहां कविता होगी वहां छंद होगा ही।यदि छंद से मतलब दोहा,सोरठा, सवैया, मालिनी, घनाक्षरी है तो इनके बिना प्रायः ८०वर्ष से कवितायें लिखी जा रही हैं। कवितायें अर्थात कवितायें निराला की बहुत सारी कवितायें, प्रसाद की प्रलय की छाया से लेकर एकांत श्रीवास्तव, अष्टभुजा शुक्ल अथवा भागवत राय की कवितायें कविता की युक्ति के भीतर रचनात्मक उक्तियां हैं।छंद और तुक पद्य के गुण हैं।कविता के नहीं। खड़ी बोली हिंदी के पद्यकार मैथिलीशरण गुप्त के रचना सिद्धराज उनकी सर्वोत्तम कविता है। इसीलिये उनकी पद्य रचनाओं मेंभी बहुत सारी जगहों पर कवित्व है। पंजाबी कवियित्री अमृता प्रीतम का जब देहांत हुआ तो मैंने कहा था कि पंजाबी लोकगाथा हीर रांझा का सुंदर एक सुंदर अनुवाद हमारे भीतर से और संसार से अनुपस्थित हो गया है।अमृता प्रीतम की प्रत्येक उक्ति कविता ही होती थी। मेरा ख्याल है कि छंद और तुक कविता के सुंदर प्रसाधन नहीं हैं। कविता का ह्रास विकास कभी नहीं होता। पढ़ने और सोचने की चीज तब भी लिखी जायेगी। वह पाठकों में प्रिय होगी।कविता ही नहीं मनुष्य और मनुष्य की तमाम रचनायें अपनी क्षमता के कारण नहीं प्रचार के कारण महत्वपूर्ण हो जाती है। जैसे अमिताभ बच्चन और ऐश्वर्या राया। ऐश्वर्या राय के दांत बहुत ही खराब हैं। सब तरह से सुंदर कई गुना जूही चावला है। इस संदर्भ में मैं किसी का नाम

इतिहास

ययाति के पुत्र तुर्वसु और द्रुहयु जो युद्ध के छोटे भाई थे। तुर्वसु ने पश्चिम एशिया को जीता और द्रुहयु ने मध्य एशिया को जीत कर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। ये चंद्रवंशी क्षत्रिय चन्द्रमा के उपासक थे और शिव की पूजा करते थे। बढ़ते हुए चाँद को नवीन चन्द्र को आज भी दुनिया के मुसलमान मान्यता देते हैं और इस प्रकार पश्चिम एशिया और मध्य एशिया के मुसलमानों ने चंद्रवंशी क्षत्रिय होने और चन्द्रमा का अनुयायी होने का अपना प्रमाण कायम रखा है तथा चंद्रवंशी क्षत्रियों के नये मजहब इस्लाम का उन्माद जोरों पर था। इन्हें भारत का सोना खींच लाता था। इनका विश्वास था कि मारे गये तो स्वर्ग (जन्नत) मिलेगा और जीते तो सोना से मालामाल हो जायेंगे। इनका धार्मिक उन्माद, संगठित शक्ति आधुनिक

सोमनाथ मंदिर पहुँच गया। कोई संगठित शक्ति नहीं थी, जो उसे रोक सके। छोटे-छोटे क्षत्रिय राज्य उसे रोकने में असफल रहे। महमूद ने सोमनाथ मंदिर पर अधिकार कर लिया और उसमें स्थित सोने चाँदी और रत्नाभूषण सहित सोमनाथ की सोने की मूर्ति तोड़कर अपने साथ ले गया। इसके पहले भी महमूद ने सोलह बार आक्रमण किया था और अपार धन सम्पत्ति ले गया। इसी प्रकार पहले मुहम्मद गोरी ने मुल्तान को जीता, बाद में पूरे पंजाब और सिंध को जीता।

अब दिल्ली और अजमेर की बारी थी। दिल्ली के राजा पृथ्वी राज ने एक बार उसे हरा दिया। दूसरी बार जयचंद के कहने पर उसने पुनः दिल्ली पर आक्रमण किया। इस बार भी उसके सिपाही और वह हिम्मत

तो लुटेरे के रुप में आये और धन लूटकर चले गये किन्तु उन्हीं का वंशज बराबर यहाँ पर राज्य करने की इच्छा से आया। इब्राहीम लोदी के चाचा अहमद खाँ और पंजाब के सूबेदार दौलत राम ने काबुल के मुगल शासक बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिये बुलाया। बाबर ने इस सुअवसर का लाभ उठाकर भारत पर आक्रमण कर दिया तथा भारत के सीमा क्षेत्र को जीतते हुए अपने १२ हजार सैनिकों को लेकर पानीपत के मैदान में आ डटा। उसकी सेना में तोपें थीं, जिन्हें बालू के ढूहे बनाकर तोपों की नली को बाहर निकाल दिया तथा तोपची ढूहे के आड़ में सुरक्षित थे। उसके पास बहुत अच्छे घुड़सवार थे जिनके पास बन्दूकें, तीर कमान, ढाल-तलवार और भाले आदि शस्त्र थे। बाबर की तोपों का

युद्ध किया। पहले ... बाबर ने अपने सिपा... भरकर उत्साहित कि... के राम मंदिर ... फकीर ने भी सहयोग... में बाबर के सेना... में राम मंदिर के स्था... दूसरे दिन धार्मिक उ... की विजय हुई। ... राज्य की स्थापना ... अफगान सरदार ... में हुमायूं को हराकर ... तक शासन किया। ... अच्छा था। इसने ... के लिये सड़कें बनवा... कलकत्ते से काबुल तक ... रोड ग्रैण्ड ट्रंक रोड ...

अहिन्दी भाषी क्षेत्र में हिन्दी की बेल ... करने में संलग्न बालसौर ...

बालसौर रेड्डी का व्यक्तित्व बहुआयामी है। उनका व्यक्तित्व हिन्दी भाषा के लिए समर्पित है। साहित्यकार, पत्रकार के रुप में रेड्डी जी ने उल्लेखनीय कार्य किये हैं। मद्रास से प्रकाशित बाल पत्रिका 'चंदा मामा' का तेइस वर्षों तक कुशल सम्पादन

कृत संकल्प रहे।आंध्र प्रदेश अकादमी हैदराबाद के अध्यक्ष पद पर कार्य कर चुके हैं। वर्तमान में भाषा परिषद कलकत्ता के

यह बस्ती: ये लोग बैरिस्टर,स्वप्न और सत्यप्रकाश और परछाई, लकुमा,धरती मेरी माँ, प्रोफेसर,वीर केसरी, दावानल

का पाथेय बनी।

चंदामामा बाल प... तक आप सम्पादक ...

...नित विक्षा ...अर्थक हूं

नहीं हैं। इनकी टोपी लगाये बिना भी सही सार्थक सोचा जा सकता है।

• विभिन्न राजनीतिक दलों के विचार धाराओं के लेखक संघ और अखबार हैं। क्या आप बताना चाहेंगे कि यह समाज, देश और साहित्य का कितना भला और नुकसान कर सकता है?

साहित्य कला संस्कृति

दूसरी बात जो शिव के समर्थकों की है वह यह कि बिना सिला हुआ कपड़ा पहनकर पूजा करते थे। वह नियम मक्का में आज भी प्रचलित है। दुनियाँ के सभी मुसलमान बिना सिला हुआ कपड़ा पहिन कर नमाज पढ़ते हैं। भारत में भी पूजा के ...

हथियार, छल-कपट की कूटनीति ही उनके जीत की कारण थी।

इसी क्रम में महमूद गजनवी सोमनाथ का सोने का मंदिर तोड़कर अपार सोना ले गया। राजस्थान के वाप्पा रावल के पास उसने अपने दूतों के साथ बहुत सा धन ...

154

[प्राच]ीन भारतमें गोमांस

- एक समीक्षा



आ. पु.

समालोचनार्थ • सम्मत्यर्थ

बहन प्रज्ञा देवी जी को
सप्रेम भेंट

उमाकान्त
उपाध्याय

प्राचीन भारतमें गोमांस—एक समीक्षा

प्रकाशक—
मोतीलाल जालान
गीता प्रेस,
गोरखपुर

प्रकाशन-तिथि—
स्वतन्त्रता-दिवस
१५ अगस्त, १९७०
श्रीकृष्णाब्द ५०७०
विक्रमाब्द २०२७



मुद्रक—
राधा प्रेस,
गांधी नगर, दिल्ली-३१

प्रथम बार १००००]

[मूल्य दो रुपये

यह स्वर्ण-भारत-भूमि, बस, मरघट-मही बन जायगी

दाँतों तले तृण दाबकर हैं दीन गायें कह रहीं,
"हम पशु तथा तुम हो मनुज, पर योग्य क्या तुमको यही !
हमने तुम्हें माँकी तरह है दूध पीनेको दिया,
देकर कसाईको हमें तुमने हमारा वध किया ॥

"जो जन हमारे माँससे निज देह पुष्टि विचारके,
उदरस्थ हमको कर रहे हैं, क्रूरतासे मारके।
मालूम होता है, सदा धारे रहेंगे देह वे—
या साथ ही ले जायँगे उसको बिना संदेह वे ॥

"हा ! दूध पीकर भी हमारा पुष्ट होते हो नहीं,
दधि घृत तथा तक्रादिसे भी तुष्ट होते हो नहीं।
तुम खून पीना चाहते हो, तो यथेष्ट वही सही,
नर-योनि हो, तुम धन्य हो, तुम जो करो थोड़ा वही ॥

"क्या वश हमारा है भला, हम दीन हैं, बलहीन हैं,
मारो कि पालो, कुछ करो तुम, हम सदैव अधीन हैं।
प्रभुके यहाँसे भी कदाचित आज हम असहाय हैं,
इससे अधिक अब क्या कहें, हा ! हम तुम्हारी गाय हैं ॥

"बच्चे हमारे भूखसे रहते समक्ष अधीर हैं,
करके न उनका सोच कुछ देती तुम्हें हम क्षीर हैं।
चरकर विपिनमें घास फिर आतीं तुम्हारे पास हैं,
होकर बड़े वे वत्स भी बनते तुम्हारे दास हैं ॥

"जारी रहा क्रम यदि यहाँ यों ही हमारे ह्रासका—
तो अस्त समझो सूर्य भारत-भाग्यके आकाशका।
जो तनिक हरियाली रही वह भी न रहने पायगी,
यह स्वर्ण-भारत-भूमि, बस, मरघट-मही बन जायगी ॥"

(राष्ट्रकवि स्वर्गीय श्रीमैथिलीशरणजी गुप्तकी 'भारतभारती' से)

नम्र-निवेदन

जब-जब गोवध बन्द करनेके लिये आन्दोलन होता है या चर्चा होती है, तब-तब कुछ लोग अपनी भ्रम-धारणाके अनुसार समाचारपत्रोंमें ऐसे लेख प्रकाशित कराते रहते हैं, जिनमें यह प्रमाणित करनेका प्रयास किया जाता है कि प्राचीन भारतमें गोहत्या हुआ करती थी और गोमांस भी खाया जाता था। उन लेखोंमें वे कुछ शास्त्रीय वाक्योंको भी उद्धृत किया करते हैं। ऐसी बातोंका समीचीन उत्तर देते हुये उन शास्त्रीय वाक्योंका सही अर्थ करके कई विद्वानोंने समय-समयपर समाधान भी किया है, किन्तु सबका संकलन एक जगह नहीं मिलता। साधारण जनता भ्रममें न पड़े, एवं जो पढ़े-लिखे लोग भ्रम-धारणासे ग्रस्त हैं, वे भी पुनः विचार करके उस भ्रमसे मुक्त हो सकें, इस विचारसे जो-कुछ सामग्री उपलब्ध हो सकी, उसका एक जगह संकलन करके उसे इस पुस्तकके रूपमें प्रकाशित किया जा रहा है।

इस संकलनमें, प्रत्येक विषयके परिच्छेदके मुद्रणके बाद किसी चर्चामें जो भी और शंका उठी, उसका भी समाधान करनेकी चेष्टा की गयी है। ऐसे समाधान परिशिष्टरूपमें दिये गये हैं और वहाँपर यह संकेत भी कर दिया गया है कि इसका उपयुक्त स्थान उस विषयके परिच्छेदके किस पृष्ठ पर किस जगह होना चाहिये। शंका-समाधानका सारा कार्य परिश्रमपूर्वक श्रीजयदयाल डालमियाने कुछ विद्वानोंके सहयोगसे किया है—इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

इसका मुद्रण दिल्लीमें हुआ। गीताप्रेसके गोरखपुरस्थित मुद्रणालयमें कार्याधिकताके कारण वहाँ इसका मुद्रण नहीं हो सका। प्रूफ देखते समय तथा कहीं-कहीं मुद्रणकाल में कोई मात्रा या टाइप टूट जानेसे कई अशुद्धियाँ रह गयी हैं। ऐसी अशुद्धियोंको हाथसे शुद्ध करके ही पुस्तकों को पाठकोंके हाथमें देनेकी गीताप्रेसकी पद्धति है, किन्तु इसमें अनेक अशुद्धियोंके रहनेसे सब जगह हाथसे शुद्धि करनेमें बहुत

अधिक परिश्रम और समय लगता, इसलिये इसका अलगसे शुद्धिपत्र दे दिया गया है। संभव है, कुछ शब्द फिर भी टूट गये हों और उनको शुद्धिपत्रमें न दिया जा सका हो, पाठक सज्जनोंसे निवेदन है कि उनको ऐसी कोई अशुद्धि दिखायी दे तो वे सूचना देनेकी कृपा करें, जिससे अगले संस्करणमें उसको सुधारा जा सके।

प्राचीन वैदिक-कालमें भारतवर्षमें गोवध नहीं होता था और गोमांस खानेकी प्रथा नहीं थी, इसके लिये प्रत्येक विषयके—जिनकी इस पुस्तकमें चर्चा है—और भी किसी प्रमाणका पाठकोंको पता हो तो वे बतानेकी कृपा करें, जिससे अगले संस्करणमें उसको भी यथास्थान जोड़नेका विचार किया जा सके।

आशा है, इस पुस्तकके संकलन लोगोंके भ्रम दूर करनेमें सहायक होंगे। प्रचारके उद्देश्यसे कोई भी सम्मान्य पत्रकार या अन्य महानुभाव इसका कोई भी अंश किसी भी भाषामें प्रकाशित करना चाहें तो उनको हमसे स्वीकृति लेनेकी आवश्यकता नहीं है, इसके लिये उनको पूर्ण स्वतंत्रता है।

इस पुस्तकमें केवल भ्रमका निराकरण तथा सत्यके प्रकाशनका प्रयास किया गया है, किन्हीं पर कोई आक्षेप नहीं। इतनेपर भी भूलसे कहीं-कहीं ऐसा जान पड़े तो वे सज्जन कृपापूर्वक क्षमा करें।

विनम्र—
प्रकाशक



यह ऐसा बोझ है जिसे सब राज्योंको खुशीसे उठाना चाहिए

—गांधीजीका सत्परामर्श

मेरे विचारमें, गोरक्षाके प्रश्नके आर्थिक पक्षको ठीकसे उठाया जाय तो इसका नाजुक धार्मिक पक्ष भी अपने आप सुलझ जायगा। आर्थिक दृष्टिसे गोहत्याको बिल्कुल निरर्थक बना देना चाहिये और ऐसा किया जा सकता है। लेकिन दुर्भाग्यसे दुनिया भरमें, हिन्दुओंके पूज्य पशु गायको मारना कहीं इतना सस्ता नहीं जितना हिन्दुओंके इस देशमें है। इसके लिये मैं ये सुझाव दूंगा—

(१) सरकार खुले बाजारमें बेचे जानेवाले हर पशुको ऊँची बोली लगाकर खुद खरीदे।

(२) सरकार सब बड़े-बड़े शहरोंमें अपनी ओरसे दूधशालाएँ चलाये जिससे लोगोंको सस्ता दूध मिले।

(३) सरकार अपने पाले हुए मृत पशुओंकी खाल और हड्डियोंका उपयोग करनेके लिये चमड़ा कमानेके कारखाने चलाये और दूसरोंके मरे हुये पशु भी खरीदे।

(४) सरकार आदर्श पशु-शालाएँ खोले और लोगोंको सिखावे कि पशुओंको कैसे पाला जाता है और उनकी नस्ल कैसे सुधारी जाती है।

(५) सरकार पशुओंके लिये यथेष्ट गोचर जमीनकी व्यवस्था करे और पशुपालनके अच्छेसे अच्छे विशेषज्ञ दुनिया भरसे बुलावे और लोगोंको पशुपालनका वैज्ञानिक तरीका सिखावे।

(६) इस कामके लिये एक अलग सरकारी विभाग खोला जाय। यह विभाग लाभ कमानेके लिये नहीं चलाया जाय और इससे लोंगोंको अच्छी नस्लके पशु तैयार करने और दूसरी बातोंमें मदद मिले।

बूढ़े, बीमार और अपंग पशुओंकी देखभाल इस योजनामें आ ही जाती है। इसमें कोई शक नहीं कि इस योजनापर भारी खर्च होगा, लेकिन यह ऐसा बोझ है, जिसे सब राज्योंको और सबसे बढ़कर हिन्दू राज्यको तो खुशीसे उठाना चाहिये।

मैंने इस प्रश्न पर जो विचार किया है, उससे मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि वैज्ञानिक ढंगकी गौशालाएँ और चमड़ा कारखाने चलानेसे सरकारको इतनी आमदनी अवश्य होगी, जिससे उन पशुओंके पालनेका खर्च निकाला जा सके जो आर्थिक दृष्टिसे बेकार हों। उनके गोबरसे खादके अलावा, उनका चमड़ा, चमड़ेका सामान, दूध और दूधकी बनी चीजें और बहुत-सी चीजें जो मरे हुए ढोरोंसे बन सकती हैं, बाजार भावपर बेचकर आमदनी की जा सकती है। अभी मूर्खतावश या वैज्ञानिक जानकारी न होनेके कारण मरे हुए पशु प्रायः फेंक दिए जाते हैं या उनसे पूरा फायदा नहीं उठाया जाता।

यंग इण्डिया ७ ७-१९२७

[भारत सरकारके सूचना और प्रसारण मंत्रालयके प्रकाशन विभाग द्वारा अप्रैल १९६७ में प्रकाशित 'गांधीजी और गोरक्षा' नामक पुस्तकके पृष्ठ १२-१४ से उद्धृत]





विषय-सूची



आभार

इस सामग्रीका संकलन जिन-जिन महानुभावोंके ग्रंथोंसे किया गया है उनके नाम तथा उनके ग्रंथोंके नाम यथास्थान उल्लिखित हैं। संकलनकर्त्ता उन सबका बहुत आभार मानता है। यहाँ उनके नाम इसलिए उल्लेख नहीं किये जा रहे हैं क्योंकि सभी महानुभाव एक-से-एक बढ़कर हैं। किसीका नाम पहले लिखा जाय और किसीका पीछे, इसमें किसीको प्रधानता अथवा गौणता देनेका अपराध बनता है जो वांछनीय नहीं। जिस पाठककी हिन्दू धर्मके रहस्यका विशेष विवरण जाननेकी इच्छा हो तो वे उन सब ग्रंथोंको मंगाकर पढ़नेका कष्ट करें।

इस सामग्रीका संकलन करनेमें एक ऐसे व्यक्तिसे सहायता मिली है जिनका नाम कहीं नहीं आता है। वे हैं स्वर्गीय डाक्टर श्रीरघुवीरजीके सुपुत्र डा. श्री लोकेशचन्द्रजी जिन्होंने अपने 'सरस्वती विहार' से अनेक अंग्रेजी भाषाके तथा अन्य अनेक विदेशी ग्रंथ खोज-खोज करके उन सामग्रियोंको बताया जिनका इस संकलनकी पुष्टिके लिये देना बहुत जरूरी था। वे ग्रंथ अन्य स्थानसे उपलब्ध होने मुश्किल थे एवं उनमें कोई-कोई तो अप्राप्य भी हैं।

संकलनकर्त्ताको पूर्ण आशा है कि इस सामग्रीको पक्षपात-रहित होकर पढ़नेवाले यह जरूर समझ जायेंगे कि 'वैदिक कालमें गोहिंसा और गोमांस भक्षण प्रचलित था'—यह बात सर्वथा मिथ्या है और भारतकी निधि वेदोंको भारतीय लोगोंकी दृष्टिमें गिरानेके लिये ही विदेशियोंने तथा उनका पदानुसरण करके कुछ भारतीयोंने भी ऐसा किया है।

शासनको उचित है कि ऐसी मिथ्या भ्रान्त धारणा फैलानेवाले ग्रंथों या लेखोंको जब्त कर ले लेकिन वर्तमान शासनसे ऐसी आशा नहीं, क्योंकि वर्तमान शासनके प्रायः सभी कर्णधारोंकी मान्यताएँ दूसरी हैं। भगवान्से यही प्रार्थना है कि उनका यथार्थ मार्गदर्शन करके उन्हें सुबुद्धि दें, जिससे वे देशके अहितकारक कार्योंको रोकनेमें समर्थ हों।

—संकलनकर्त्ता

प्रस्तावना

लगभग १०० वर्षसे देखा जा रहा है कि सनातन धर्म-ग्रंथोंसे विदेशी लोग ही नहीं, हमारे देशके विद्वान लोग भी यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा कर रहे हैं कि वैदिक कालमें मांसाहार ही नहीं, बल्कि गोमांसके खानेकी भी प्रथा थी; केवल प्रथा ही नहीं, गोमांस खाना उस समय आवश्यक माना जाता था। विचार किया जाय कि इस अन्वेषण और प्रचारकी पृष्ठभित्ति क्या है?

अंग्रेजोंके शासनकालमें कारतूसोंमें गायकी चर्बीके प्रयोगका जब पता लगा तब सन् १८५७ में फौजमें गदर हो गया था। तभीसे अंग्रेजी शासन इस बातके लिये चिन्तित था कि किस प्रकार भारतीयोंके मनसे गौके प्रति पूज्य भावना निकाल दी जाय। इसके लिये योरोपके विद्वानोंको संस्कृत-ज्ञान करवाकर सनातन-धर्म-शास्त्रोंका जहाँ-तहाँ विपरीत और गलत अर्थ लगवाकर उसका प्रचार करनेकी चेष्टा की गयी। इसके प्रमाणमें 'पाश्चात्य संस्कृतज्ञोंकी नीयत' शीर्षक प्रवन्ध देखिये।

हमारे देशवासियोंको भी इस कार्यमें लगाया गया कि सनातन-धर्मके शास्त्रोंसे ऐसी बातें खोजकर निकाली जायँ जिससे सनातन-धर्मावलम्बियोंके मनसे 'गौके प्रति पूज्य भावना' हट जाय और 'गायकी हिंसा नहीं की जा सकती'—ऐसी भावना भी न रहे। ऐसा लगता है कि सबसे पहले इस कूटनीतिके शिकार बने राजा राजेन्द्रलाल मित्र। इनका जन्म सन् १८२२ में हुआ था। ये बंगालके वैष्णव परिवारके बताये जाते हैं। इनका अंग्रेजी भाषामें लिखा 'प्राचीन भारतमें गोमांस'—'Beef in Ancient India' प्रबन्ध सन् १८७२ में अर्थात् गदरके लगभग १५ वर्ष बाद बंगालकी एशियाटिक सोसाइटीकी पत्रिका—Journal of the Asiatic Society of Bengal—में प्रकाशित हुआ। इसके लिये उनको अनेक वैदिक ग्रंथोंका अध्ययन करना पड़ा। उनमें से अनेकोंपर इन्होंने टिप्पणियाँ भी लिखीं। 'प्राचीन भारतमें गोमांस' प्रबंध प्रकाशित होनेके लगभग चार वर्ष बाद जब यह लगा कि इसका प्रतिवाद

नहीं हो रहा है और इस प्रबंधके तथ्योंको एक प्रकारसे लोगोंने स्वीकार कर लिया, तब सन् १८७६ में कलकत्ता विश्वविद्यालयने उनको कानून शास्त्री Doctor of Law (LL. D.) की उपाधि दी। इनके द्वारा रचित अंग्रेजी भाषाका वृहद्‌ग्रंथ 'इण्डो आर्यन' (Indo Aryan) दो खण्डोंमें कलकत्तेकी W. Newman & Co. ने सन् १८८१ में प्रकाशित किया, जिसके पहले खण्डके अध्याय ६ के रूपमें 'प्राचीन भारतमें गोमांस'—यही प्रबंध संनिविष्ट है।

इस प्रबंधका अलग पुस्तकके आकारमें प्रथम प्रकाशन सन् १९२६ में कलकत्तासे एक स्वामी भूमानन्द द्वारा हुआ। इसके कुछ दिन पूर्व से ही महात्मा गांधीने गोरक्षाकी चर्चा आरम्भ की थी जैसा कि २५ जनवरी १९२५ के बेलगांव गोरक्षा परिषद्में अध्यक्ष पदसे दिये हुए उनके भाषणसे और उनके बादके कामोंसे स्पष्ट है। इस पुस्तिकाकी प्रस्तावनाके पृष्ठ (i) की १७वीं पंक्तिसे प्रकाशक भूमानन्द वड़े गर्व के साथ लिखते हैं—

> "In my long residence in the Punjab, and in my travels from Alwar to Peshawar, I came in contact with many educated Hindu gentlemen, but I was sorry to find that most of them did not study their own scriptures, and, being ignorant of the manners and customs of their ancestors, were necessarily very narrow in their out look......I myself do not pretend to be a Sanskrit scholar, **but my studies of our ancient books, mostly in English and Vernacular translations**, have opened my eyes to this fact, that the Hindu society was not always just like the present one. For instance, we find in the Vedic literature, the ultimate authority and the fountain of knowledge, clear evidences of inter-cast marriages, widow marriage, elaborate *Yajna*, animal sacrifices, drinking of *Soma* juice and the eating of food which is at present prohibited in the Hindu society."

अर्थात्— "पंजाबके मेरे दीर्घकालके प्रवासमें एवं अलवरसे पेशावर तकके भ्रमणमें मैं अनेक पढ़े-लिखे हिन्दू महानुभावोंके सम्पर्कमें आया, परन्तु मुझे दुःख है कि उनमेंके अधिकांश लोगोंने अपने धर्मशास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया और अपने पूर्वजोंके आचार-विचारसे अनभिज्ञ

होनेके कारण, वे अपने दृष्टिकोणमें बहुत ही संकीर्णसे बने रहे। ......मैं संस्कृतका विद्वान होनेका दावा नहीं करता किन्तु अधिकतर **उन ग्रंथोंके अंग्रेजी और देशी भाषाके अनुवादोंके माध्यमसे मेरे अध्ययनने मेरी आँखें खोल दीं** कि उस समयका हिन्दू समाज आजके जैसा नहीं था। उदाहरणार्थ—वैदिक ग्रंथोंमें, जो सर्वोपरि एवं ज्ञानके स्रोत माने जाते हैं—अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह, बड़े-बड़े यज्ञ, पशुवध, सोमपान, ऐसे खाद्योंका भक्षण जो आजके हिन्दू समाजमें वर्जित हैं—इन सबके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।......"

प्रस्तावनाके अंशोंसे इस पुस्तिकाके प्रकाशन और प्रचारका आशय स्पष्ट हो जाता है। भली-भांति संस्कृतसे अनभिज्ञ जनताको गलत अर्थ करके किस तरह भरमाया जाता है—यह इस पुस्तकमें दिये गये अनेक प्रबंधोंके पढ़नेसे स्पष्ट हो जायगा।

इसके बाद गौ-रक्षाका जोरदार आन्दोलन आरम्भ हुआ सन् १९६७ में। तभी इस प्रबन्धका एक और संस्करण जून १९६७ में 'मनीषा ग्रंथालय प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता' द्वारा प्रकाशित हुआ और इसकी अनेक प्रतियाँ बिना मूल्य वितरण की गयीं। उनका बिना मूल्य वितरण प्रकाशक द्वारा सीधे किया गया या अन्य किसीके द्वारा—इसका कुछ पता नहीं।

राजा राजेन्द्रलाल मित्रके बाद पाण्डुरंग वामन काणे महोदयको मान्यता दी गयी, जो एम.ए., एल.एल.बी.–M.A., L.L.B. बम्बई हाईकोर्ट के एडवोकेट (Advocate) थे, जिन्होंने अंग्रेजी भाषामें 'धर्मशास्त्रका इतिहास' (History of Dharmashastra) कई खण्डों और भागोंमें लिखा जिसका प्रकाशन भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंष्टीट्यूट, पूना द्वारा हुआ है। इन्होंने भी जहाँ-तहाँ शास्त्रोंसे विस्तृत प्रमाण देकर यह सिद्ध करनेकी चेष्टाकी है कि प्राचीन भारतमें मांस और गोमांस भक्षण प्रचलित था।

इतना ही करके संतोष नहीं किया गया, बल्कि राजेन्द्रलाल मित्रके 'प्राचीन भारतमें गोमांस' प्रबन्धके आधार पर गोमांस-भक्षणका जोरोंसे

प्रचार करनेके लिये गोमांस-भक्षी क्लबकी स्थापनाकी गयी। नीचेका उद्धरण देखिये—

"There were those among the intellectuals in touch with the British who were dazzled by the new ideas. The new light in their eyes was so bright that they thought the light within themselves was darkness."

"They took, so to speak, Macaulay at his word, and set out to Westernize themselves in thought, mind and spirit. They formed beef-eating clubs and gloried in the defiance of cast superstition."

"The advocates of acceptance rather than the mutineers were the real revolutionaries of the nineteenth century India."

('INDIA, PAKISTAN AND THE WEST' by Percival Spear, published by Oxford University Press, 1949 edition, page 182, lines 9 to 13 and 28 to 30)

अर्थात्—ब्रिटिश लोगोंके सम्पर्कमें आने वाले पढ़े-लिखे लोगोंमें ऐसे व्यक्ति भी थे जो (इन) नयी विचार-धाराओंसे चौंधिया गये। उनकी दृष्टिमें (इन विचार-धाराओंका) यह नया प्रकाश इतना तीव्र था कि वे लोग सोचने लगे कि उनके अपने भीतर जो (ज्ञानका) प्रकाश था वह तो अंधकार था। (अर्थात् वे समझने लगे कि उनके वे धर्म विषयक संस्कार अंधकारके ही प्रतीक थे और अब उन्हें सच्चा प्रकाश प्राप्त हुआ कि वैदिक कालमें गोहिंसा हुआ करती थी और उन दिनोंमें लोग छूटसे गोमांस खाया करते थे)

लार्ड मैकालेके शब्दोंको उन लोगोंने अक्षरश: सत्य रूपमें ग्रहण किया और अपने आपको विचारोंसे, मनसे और भावोंसे पश्चिमीय साँचेमें ढालने लगे। उन लोगोंने गोमांस-भक्षी क्लब की स्थापनाकी और जाति-पाँति (वर्ण धर्म) व्यवस्थाको अंध-विश्वास मानकर उसका अनादर करनेमें ही अपने आपको गौरवान्वित मानने लगे।

(सन् १८५७ के) विप्लव-कारी लोग नहीं, बल्कि गोमांसको स्वीकार करनेके समर्थक लोग ही उन्नीसवीं शताब्दीके भारतके वास्तविक क्रांतिकारी थे।

लार्ड मैकालेके सर्व-विदित प्रसिद्ध वाक्य—

"English education would train up a class of persons—Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect."

अर्थात्—अंग्रेजी शिक्षा व्यक्तियोंका एक ऐसा वर्ग तैयार करेगी जो रक्त और रंगमें तो भारतीय किन्तु रुचि, विचार, आचार, और बुद्धिमें अंग्रेज होगा।

शास्त्रोंके मांस-निषेधक वचनोंको छिपाना और अर्थका अनर्थ करके मांस भक्षणको प्रमुखतासे जनताके सामने रखना—यही इन लोगोंका मुख्य ध्येय रहा है। इन लोगोंको प्राचीन ब्रिटिश सरकार द्वारा ही नहीं, अपितु भारतकी वर्तमान सरकार द्वारा भी मान्यता मिली, अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगोंके आधुनिक समाजमें सम्मान मिला, इसलिये ऐसे सम्मानके लोलुप अन्य लोग भी जो स्वयं संस्कृतका कुछ भी ज्ञान नहीं रखते हैं और धर्मशास्त्रोंका तनिक भी अध्ययन नहीं किया है, वे भी इसी ढंगके प्रबन्ध लिखकर अंग्रेजी भाषाके पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित करवाते रहते हैं। उनके विरोधमें कोई प्रमाण सहित कुछ लिखकर भेजता है तो उसका प्रकाशन नहीं होता।

सामान्य जन इनकी बातोंसे अच्छी प्रकार भ्रमित होकर यह विश्वास करने लगे कि जब इतने बड़े-बड़े पढ़े-लिखे लोग खुले आम शास्त्रीय प्रमाण द्वारा घोषित करते हैं तब निश्चय ही यह सत्य है कि सनातन-धर्म-ग्रंथोंमें मांस-भक्षण, गोमांस-भक्षण आदिका निषेध तो है ही नहीं प्रत्युत आवश्यकीय विधान भी है। यह कितनी भ्रांत धारणा है—यह बात इसमें वर्णित प्रबंधोंके पढ़नेसे स्पष्ट हो जायगी।

वेदोंमें केवल गोहिंसा ही वर्जित हो—ऐसी बात नहीं है, बल्कि सब प्रकारके तृण-भोजी जीवोंकी हिंसा वर्जित है। ('क्या वैदिक कालमें गोहिंसा, मांस-परक यज्ञ और मांस-भक्षण प्रचलित था?' शीर्षक प्रबंध देखिये)।

अन्य धर्मशास्त्रोंमें भी अहिंसा-धर्मका प्रतिपादन बहुत जोरके साथ किया गया है ('धर्मशास्त्रोंमें अहिंसा-धर्मकी विशेषतायें' शीर्षक संकलन देखिये)।

इतना होने पर भी धर्म-ग्रंथोंमें जहाँ-तहाँ हिंसापरक कार्योंका और मांसभक्षणका उल्लेख देखनेमें आता है। पूर्वापर प्रसंगको लेकर इनपर विचार करना चाहिये कि ऐसे उल्लेख 'अवश्य पालनीय धर्म' के रूपमें बताये गये हैं या मांस-भक्षी कुप्रवृत्तियोंको रोकनेके लिये कोई मार्ग निकाला गया है। प्राणियोंमें कई प्रकारकी कुप्रवृत्तियां स्वाभाविक देखनेमें आती हैं, जैसे कामोपभोग रूपी व्यभिचार, सुरापान इत्यादि-इत्यादि। जैसे अनेक स्त्री-पुरुषोंकी चाहे जिसके साथ आपसमें व्यभिचारकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिये मानवके लिये यह विधान दिया गया कि एक पुरुष एक ही नारीसे विवाह-वन्धनमें बंधकर वहीं तक प्रवृत्त रहे तो ब्रह्मचारी जैसा ही माना जाय, वैसे ही मांस-भक्षियोंकी मांस-भक्षणकी प्रवृत्ति रोकनेके लिये उस प्रकारके उल्लेख जहाँ हों और वास्तवमें मांस-भक्षण-निषेध और हिंसा-निषेध ही उद्देश्य हो तथा निरामिष भोजन तथा अहिंसाको ही प्रमुख धर्म बताया हो, और उसको अच्छी प्रकार समझकर तथा मनन करके देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि मांस-भक्षण एवं हिंसापरक कर्मको 'अवश्य पालनीय-धर्म' नहीं कहा गया है। अतएव जहाँ भी हिंसाका समर्थक या मांस-भक्षणका समर्थक या मांसपरक-कर्मके विधान जैसे वाक्य देखनेमें आवें उनको पहले तो विचार-पूर्वक देखना चाहिये कि कुप्रवृत्तियोंको रोकनेके लिये प्रतिबंधके रूपमें हैं या 'अवश्य-पालनीय-धर्म' के रूपमें। यदि अवश्य-पालनीय धर्मके रूपमें ही वे वाक्य हों तो वे मान्य न होकर उनको क्षेपक ही मानना चाहिये ('श्रुति और स्मृतिमें विरोध हो तब ?' शीर्षकके अन्तर्गत दिये गये प्रमाण देखिये।)

महाभारतमें बताया है—

लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम्।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम्॥ (शांतिपर्व २६३.६)

ब्रह्मन्! धन कमानेके प्रयत्नमें लगे हुए बहुत-से लोभी और नास्तिक पुरुषोंने वैदिक वचनोंका तात्पर्य न समझकर सत्य-से प्रतीत होनेवाले मिथ्या यज्ञोंका प्रचार कर दिया है।

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥ (शांतिपर्व २६५।९)

सुरा, मछली, मधु से बनी शराब, मांस, आसव तथा तिल और चावल की

खिचड़ी—इन सब वस्तुओंको धूर्तोंने यज्ञमें प्रचलित कर दिया है। वेदोंमें इसके उपयोगका विधान नहीं है।

महाभारतमें और भी स्पष्ट उल्लेख है कि यज्ञोंमें किसी प्रकारकी हिंसाको स्थान नहीं है —

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः। (शान्ति० ३३७, ४-५)

यज्ञोंमें बीजोंकी आहुति देनी चाहिए, ऐसी वैदिक श्रुति है। बीजोंका ही नाम अज है, अतः बकरेका वध करना उचित नहीं। जहाँ-कहीं भी यज्ञमें पशुका वध होता हो, वह सत्पुरुषोंका धर्म नहीं है।

जैन-धर्म 'स्याद्वादमंजरी' नामक ग्रंथमें भी यज्ञ प्रकरणमें 'अज' का धान्य आदि परक अर्थ किया गया है—

तथाहि किल वेदे 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादि वाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकं व्याचक्षते। सम्यग्दृशस्तु जन्माप्रायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि, पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि, सप्तवार्षिकं कङ्कुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसाययन्ति। (श्लोक संख्या २३ की व्याख्या, बम्बई संस्कृत प्राकृत सीरीज़ द्वारा प्रकाशित, १९३३ का प्रथम संस्करण, पृष्ठ १४०, पंक्ति ४९-५४)

अर्थात्—वैसे ही वेदके 'अजोंसे यज्ञ करना चाहिये' इत्यादि वाक्योंमें अज्ञानी लोग 'अज' शब्दको पशुवाचक कहते हैं। 'जन्माप्रायोग्यम्' जिनके पुनर्जन्मकी सम्भावना नहीं है ऐसे सम्यग्दृश् अर्थात् ज्ञानीजन तीन वर्षके जौ-व्रीहि आदि, पाँच वर्षके तिल-मसूर आदि, सात वर्षके कङ्कु-सर्षप आदि धान्यके पर्यायके रूपमें उन्हें मानते हैं।

विष्णु शर्मा विरचित 'पञ्चतन्त्र' के काकोलूकीय (तृतीय तन्त्र) में भी लिखा है—

एतेऽपि ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति ते मूर्खा परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति। तत्र किल एतदुक्तमजैर्यष्टव्यम्। अजा व्रीह्यः तावत् सप्त-वार्षिकाः कथ्यन्ते न पुनः पशुविशेषाः।

अर्थात्—जो लोग यज्ञमें पशुओंको मारते हैं, वे मूर्ख हैं, क्योंकि वे यथार्थ रीतिसे श्रुतिका अर्थ नहीं जानते। श्रुतिमें कहा है 'अजोंसे यज्ञ करना

चाहिये'। 'अज' नाम सप्तवर्षीय व्रीहिधान्यका है, न किसी पशु विशेषका।

वहाँ शास्त्रीय प्रमाणमें निम्न श्लोक उद्धृत किया गया है—

वृक्षांश्छित्वा पशून्हत्वा कृत्वा रुधिर कर्दसम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरकं केन गम्यते॥

अर्थात्—वृक्षोंको काटना, पशुओंको मारना, उनके रुधिरका कीच मचाना—इत्यादि कर्मसे यदि स्वर्ग मिलता है तो फिर नरक किन कर्मोंका फल है?

पंडित धर्मदेव विद्यावाचस्पति अपनी पुस्तक 'वेदोंका यथार्थ स्वरूप' (प्रकाशक—गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, सं० २०१४ संस्करण) के पृष्ठ २५१-२५२ पर लिखते हैं—

"इससे यह स्पष्ट है कि यज्ञोंमें पशुहिंसा धूर्तकल्पित है इसलिये श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों, ब्राह्मणग्रंथों, स्मृतियों तथा अन्य ग्रन्थोंमें जो इस प्रकारके वचन पाये जाते हैं वे वेद-विरुद्ध होनेसे अमान्य और पीछेकी मिलावट (प्रक्षिप्त) हैं।"

ऐसे प्रक्षेप प्राचीन ग्रन्थोंमें बहुत होते रहे हैं, इस बातको सुप्रसिद्ध द्वैतवादी-आचार्य मध्व उपनाम आनन्दतीर्थजीने 'महाभारत तात्पर्य निर्णय' में इन शब्दों द्वारा बताया है—

क्वचिद् ग्रन्थान् प्रक्षिपन्ति क्वचिदन्तरितानपि।
कुर्युः क्वचिच्च व्यत्यासं प्रमादात्क्वचिदन्यथा॥
अनुत्सन्ना अपिग्रन्थाः व्याकुला इति सर्वशः॥

('महाभारत तात्पर्य निर्णय' अ० २ सर्वमूल कुम्भघोणम् संस्करण पृ० ६०७)

अर्थात्—धूर्त लोग कहीं ग्रन्थोंमें प्रक्षेप कर देते हैं; कहीं कुछ वाक्योंको लुप्त कर देते हैं, कहीं प्रमादवश बदल देते हैं और कहीं जान-बूझकर परिवर्तन कर देते हैं। इस प्रकार जो ग्रन्थ नष्ट नहीं भी हुए वे भी व्याकुल हो गये हैं, अर्थात् उनमें बहुत कुछ गड़बड़ हो गयी है।

वेदोक्त प्रमाणोंके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत् सप्तम स्कन्ध, अध्याय १५, श्लोक ७, ८, १० और ११ देखिये—

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्त्ववित् ।
मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया ॥७॥

धर्मका मर्म जाननेवाला पुरुष श्राद्धमें मांसका अर्पण न करे और न स्वयं ही खाय; क्योंकि पितरोंको ऋषि-मुनियोंके योग्य हविष्यान्नसे जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी पशु-हिंसासे नहीं होती ॥७॥

नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम् ।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः ॥८॥

जो लोग सद्धर्म-पालनकी अभिलाषा रखते हैं, उनके लिये इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है कि किसी प्राणीको मन वाणी और शरीरसे किसी प्रकारका कष्ट न दिया जाय ॥८॥

द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति ।
एष माकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृब् ध्रुवम् ॥१०॥

जो कोई इन द्रव्यमय यज्ञोंसे यजन करना चाहता है, उसे देखकर सभी प्राणी डर जाते हैं; वे सोचने लगते हैं कि यह अपने प्राणोंका पोषण करनेवाला निर्दयी मूर्ख मुझे अवश्य मार डालेगा ॥१०॥

तस्माद् दैवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित् ।
सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रिया ॥११॥

इसलिये धर्मज्ञ मनुष्यको यही उचित है कि प्रतिदिन प्रारब्धके द्वारा प्राप्त मुनिजनोचित हविष्यान्नसे ही अपने नित्य और नैमित्तिक कर्म करे तथा उसीसे सर्वदा सन्तुष्ट रहे ॥११॥

मनुस्मृति आदि धर्मग्रंथोंमें जो मांस-विधायक वाक्य मिलते हैं, उनके लिये स्पष्ट रूपमें नहीं बताया गया है कि ये किनके लिये हैं। मनुस्मृति, अध्याय ११ में निम्नलिखित श्लोक है, जिसकी संख्या किसी संस्करणमें ६५ है और किसीमें ९६—

यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ।
तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥

मद्य, मांस, सुरा, आसव—ये यक्ष, राक्षस तथा पिशाचोंके आहार हैं। इसलिये देवताओंकी हवि खाने वाले ब्राह्मणोंके लिये (ये वस्तुएँ) खाने योग्य नहीं हैं।

इससे यह प्रमाणित होता है कि मांस-मदिरा आदि यक्षों, राक्षसों और पिशाचोंका आहार हैं। इससे स्पष्ट है कि धर्मशास्त्रोंके मांसपरक वाक्य मानव जातिके लिये नहीं हैं। वेदोंमें भी इनको यातुधानों—राक्षसोंका भोजन बताया है और इन्हें खाने वालोंके लिये मृत्यु-दण्डका विधान है—

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥

(ऋग्वेद १०. ८७. १६/८. ४. ८. १.)

अर्थात्—जो पुरुषके मांसका सेवन करता है, जो घोड़ेका या अन्य पशुका मांस खाता और गौओंकी हत्या करके उनके दूधसे अन्योंको वंचित करता है, हे राजन्! यदि अन्य उपायोंसे ऐसा यातुधान (हिंसक—राक्षस वृत्तिका पुरुष) न माने तो अपने तेजसे उन सबके सिर तकको काट डाला। यह अन्तिम दण्ड है जो दिया जा सकता है।

गौतमधर्मसूत्र (मिताक्षरावृत्ति सहित) के हिन्दी-व्याख्याकार डाक्टर उमेशचन्द्र पाण्डेय (चौखंभा संस्कृत सीरिज् आफिस, वाराणसी द्वारा प्रकाशित वि०सं० २०२३ का संस्करण) भूमिकाके पृष्ठ १३ के अन्तमें लिखते हैं—"प्राचीन साहित्यमें क्षेपकोंके लिये पर्याप्त अवसर था और किसी ग्रन्थका विशुद्धरूप निर्धारित करना असंभव-सा ही है।" यवन-राज्यकालमें भयके कारण एवं अंग्रेजोंके राज्यकालमें लोभके कारण अनेक धर्मग्रन्थोंमें प्रक्षिप्त जोड़े गये लगते हैं। ऐसे ग्रन्थोंका विशुद्धरूप निर्धारित करना कठिन अवश्य है लेकिन असम्भव नहीं कहा जा सकता। जो भी वाक्य श्रुतिसे विपरीत हों उनको प्रक्षिप्त मानकर उन ग्रन्थोंके विशुद्धरूपका निर्णय किया जा सकता है। यह कार्य बहुत कष्ट-साध्य है। इसको वे ही व्यक्ति कर सकते हैं जो वेदके वाक्योंका ठीक-ठीक अर्थ लगा सकते है। यह कार्य करने योग्य है। इस समयमें भी धर्मशास्त्रोंके सदाचारी विद्वान वर्तमान हैं। दिन पर दिन संस्कृत भाषाकी उपेक्षा होनेसे इस भाषाके विद्वान और शास्त्रके अनुसार

आचरण करने वाले लोग भविष्यमें दुर्लभ हो जायेंगे। यदि यह कष्टसाध्य कार्य वर्तमान कालमें न हो पाया तो भविष्यमें योग्य विद्वानोंके अभावमें अवश्य ही असम्भव बन जायगा।

वेदोंकी भाषाका अर्थ लगाना सरल काम नहीं है। निरुक्तके ज्ञानके बिना वेदकी भाषा नहीं समझी जा सकती। देवगणको परोक्ष भाषा ही प्रिय है, प्रत्यक्ष नहीं—'परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्ष-विद्विषः' (गोपथ ब्राह्मण १. १. १.)। महाभारतकी सरल भाषामें भी अनेक ऐसे स्थल हैं जिनका ठीक अर्थ लगाना बड़ा कठिन है। महाभारत में स्वयं लिखा है—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥ (आदि. १.८१)

अर्थात्—८,८०० श्लोक ऐसे हैं जिनका पूरा ज्ञान व्यासजीको है तथा शुकदेवजीको है, संजयको हो भी सकता है न भी हो।

श्रीमद्भागवत महापुराणमें भी यह वर्णन है कि देवोंको परोक्ष वर्णन ही प्रिय है—

यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान् विश्वभावनः॥ (श्रीम. भा. ४. २८. ६५)
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्॥ (श्रीम. भा. ११. ३. ४४)

जिस प्रकार प्रकाशमें अंधकारको स्थान नहीं, वैसे ही ज्ञानके मूर्त-स्वरूप वेदोंमें कोई भी ऐसी बात होनी सम्भव नहीं जो मनुष्यको आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक क्षेत्रमें ऊँचा उठानेमें रोक लगाती हो। जिस प्रकार प्रकाशमें भी अपनी छायाकी कालिमा दीखती है, उसी प्रकार वेदोंमें भी लोग अपनी कालिमाको देखना चाहें तो देख सकते हैं, किन्तु वास्तवमें उस कालिमाका वहाँ अस्तित्व नहीं है।

ऋषियोंकी समाधि-अवस्थामें उनको मन्त्रोंका प्रत्यक्ष होता था और उनके अर्थका भी, इसीसे वे मन्त्र-द्रष्टा कहे जाते हैं। इसी प्रकार उनको सृष्टि-रचनाका ज्ञान भी था। सृष्टिकर्त्ता ने जीवोंमेंसे कुछ को तृण-भोजी बनाया, तो कुछ को जीव-भोजी। किन्तु मानवको उद्भिज्ज-भोजी ही बनाया है, जो उसकी शरीर रचनासे भी स्पष्ट है। आजकलके भी शरीर-रचना-विज्ञानवेत्ता एवं चिकित्सा-विज्ञानवेत्ता भी यही बताते हैं। अर्नेस्ट क्रासबी (Earnest Crosby) और जेम्स ओल्डफील्ड (James Oldfield,

M.A., D.C.L., M.R.C.S.,) के लेखोंमें से कुछ चुने हुए वाक्योंका हिन्दी अनुवाद नीचे दिया जा रहा है—

क्या मांस मनुष्यका स्वाभाविक भोजन है ?

अर्नेस्ट क्रासबी (Ernest Crosby) के ज्ञानपूर्ण वृहत् साहित्यसे चुने हुए वाक्य—

कसाईगीरी निर्दयतापूर्ण कार्य है—यह स्वतः ही इतना स्पष्ट है कि इसके विवेचनकी आवश्यकता नहीं और इस निर्दयताका लक्ष्य सामान्यतः पशुका प्राण ही रहता है।

अन्तमें कसाईखानेमें पशु ऐसे मनुष्यों द्वारा प्राप्त किये जाते हैं जो यन्त्रवत् काम करते-करते यन्त्रवत् बन गये हैं, जिनके लिये प्रति मिनट नियत संख्यामें पशुओंकी हत्या करना जरूरी होता है और जिन्हें (पशुके शरीरमें से) प्राण निकलनेके पूर्व ही चमड़ा उधेड़नेकी क्रिया भी आरम्भ कर देनी पड़ती है। कई बार तो सफेद मांस प्राप्त करनेको ऐसा करना पड़ता है कि प्राण धीरे-धीरे विलम्बसे निकलें।

हत्याके स्थानपर पशु बहुत बौखलाया हुआ आता है और उसके द्वारा होनेवाले प्रतिरोधको रोकनेके लिये उसकी आँख फोड़नी अथवा पूँछ इस हद तक मरोड़ना जरूरी होता है कि वह टूट जाती है। इस कसाईगीरीके व्यवसायमें लगे हुए लोगोंके लिये दया (humanity) का उपदेश व्यर्थ है। हम भी यदि इस व्यवसायको अपनावें तो हम भी उसी तरह करेंगे।

खानेके लिये प्राणि-हत्याका विचार ही मूलतः निर्दयतापूर्ण है और निर्दयताके साथ कोमलता (cruel humanely) नहीं हो सकती। 'जीवोंके प्रति निर्दयता निवारक समाज' के अतिशय भयभीत हुए एक अफसरने जो शिकागो (Chicago, U.S.A.) के कसाईखानेके निरीक्षण-कार्यपर प्रथम बार गया था, (वहाँके कसाई व्यवसाय वालोंसे) पूछा—"तुमसे ऐसा व्यवसाय किस प्रकार अपनाया गया ?" और निरुत्तर कर देनेवाला यथार्थ उत्तर मिला—"हजूर ! जो घृणित कार्य आपको स्वयं करना पड़ता, वह आपके लिये हम लोग कर देते हैं।" यह कर्म मनुष्य मात्र को पशु बना देने वाला (brutalising) तथा निर्दय (cruel) है और मांसकी माँग उत्पन्न करने वाले लोग ही इसके लिये जिम्मेदार हैं।

और यह बड़ी आश्चर्यपूर्ण शठता है कि कतलके लिये हम सबसे अधिक निर्दोष पशुओंको चुनते हैं। यदि हिंसक जीवोंका शिकार किया जाय तो यह बात कुछ हद तक न्यायसंगत हो सकती है, लेकिन हम लोग निरपराध हरिण, गाय और भेड़ आदि को कतल करना ही पसन्द करते हैं। क्या मांस-भक्षी जीवोंका मांस घृणित है ? तो फिर हम मांस-भक्षी बनकर अपने मांस को घृणित क्यों बनाते हैं ?

मांसके गन्दे और अस्वास्थ्यकर होनेके अतिरिक्त यह बहुत सरलतासे प्रमाणित किया जा सकता है कि मनुष्यके लिये मांस स्वाभाविक खाद्य नहीं है। यदि यह स्वाभाविक खाद्य होता तो क्या आप कसाईकी किसी भी दुकानपर जाकर हत्या किये हुए पशुके मांसका एक टुकड़ा काटकर अपने मुँहमें डालनेके इच्छुक नहीं होते ? किसी फल या शाक-सब्जीके लिये ऐसा करनेमें आपको कोई हिचकिचाहट नहीं होगी। यदि मांस आपका स्वाभाविक खाद्य होना तो क्या आपको कुत्ते या बिल्लीका मांस खानेमें केवल इसलिये घिन लगती कि आप उसके अभ्यासी नहीं हैं ? कोई नया फल आपके सामने आवे तो आप उसको अवश्य चखना चाहोगे। कोरियामें मांसके लिये कुत्तोंको पाला जाता है और सिद्धान्ततः उनके मांसमें एवम् अन्य मांस में कोई अन्तर नहीं है। एक बिल्लीके बच्चेको और एक मुर्गीके बच्चेको एकही घरमें छोड़ दें तो बिल्ली का बच्चा मुर्गीके बच्चेपर झपटकर उसे खा कर यह स्पष्ट कर देगा कि उसका स्वाभाविक खाद्य क्या है ? बिल्लीके बच्चेकी बजाय यदि एक मानवके बच्चेको वहाँ छोड़ दिया जाय तो वह मुर्गीके बच्चेको खाने का प्रयत्न नहीं करेगा, किन्तु सेब खानेकी चेष्टा करेगा ; क्योंकि वह उसका स्वाभाविक खाद्य है। ......इन सब बातोंसे पता चलता है कि मांस मानवका स्वाभाविक खाद्य नहीं है।

मानवके शरीरकी रचना भी इस बातकी पुष्टि करती है। उसकी आँतें मांस-भक्षी जीवों जैसी छोटी न होकर तृण-भक्षी जीवोंकी तरह लम्बी होती हैं। उसके जबड़े ऐसे ढंगसे सटे हुए होते हैं कि वे एक दूसरेके सहयोगसे किसी वस्तुको पीस सकें, जैसे कि घोड़े, गाय और ऊँटके होते हैं; वे कुत्तोंके जबड़ोंकी तरह खड़ेसे लगे हुए नहीं होते। मनुष्यके मांस-भक्षी दाँत नहीं होते जिनको अक्सर नुकीला (eye-teeth) कहा जाता है। यह बात निरामिष भोजी वनमानुस (anthropoid ape) में बहुत अधिक स्पष्ट दिखाई देती है।

वहुत बड़े शरीर-रचना-विशेषज्ञ एवम् प्राकृतिक इतिहासज्ञ रिचर्ड ओवेन (Richard Owen) बहुत पहले ही बता गये हैं कि "बनमानुस और सभी चतुर्भुज (quadrumane) अपना-अपना पोषण फलोंसे, अनाजसे एवम् दूसरे रसीले शाक सब्जियोंसे प्राप्त करते हैं और इन जानवरोंकी शरीर-रचनासे मनुष्यकी शरीर-रचनामें अत्यधिक समानता मनुष्यकी फलाहारी प्रकृतिको स्पष्टरूपसे प्रदर्शित करती है।" और इस तथ्यकी प्रामाणिकता आज उस समयकी अपेक्षा अधिक है जिस समय ओवन साहबने यह लिखा था। मनुष्यके लिये मांस खाना स्वाभाविक है ही नहीं।

लेडी मारगरेटके फलाहारी चिकित्सा-भवन (The Lady Margaret Fruitarian Hospital) के अन्तर्गत अर्नशा कूपर (Earnshaw-Cooper) द्वारा संस्थापित भोजन शास्त्र विभागके अध्यापक (Lecturer on Dietatics) जेम्स ओल्डफील्ड (James Oldfield, M. A., D. C. L., M.R.C.S.) साहबके लेखोंमेंसे चुने हुये अनुच्छेद—

सबसे प्राचीन औषधवैज्ञानवेत्ताने गणित सम्बन्धी सिद्धान्तोंके अनुसार सोचना आरम्भ किया और वह ठीक ही इस निष्कर्षपर पहुँचा कि किसी भी जीवके मल (waste matter) को यदि शीघ्र ही पूर्णरूपसे अलग नहीं कर दिया जाता तो वह मल उस जीवके लिये रोगका कारण बन जाता है।

उस वैज्ञानिकने यह भी ध्यानपूर्वक देखा कि **मांस-भक्षी पशुओंका मल सबसे अधिक हानिकारक होता है।** (तृण-भक्षी) पालतू जानवरोंको गुफाके अन्तिम छोर तक ले जाकर रखा जा सकता है और इससे किसीको कोई हानि नहीं होती, किन्तु (मांस-भक्षी) कुत्ते, बिल्ली या भेड़िये जिस गुफामें बन्द करके रक्खे गये हों उससे कई वर्षोंतक दूर रहना चाहिये। उस विज्ञान वेत्ताने भविष्यके लाभ उठानेके लिये अपने मनमें यह भी निश्चय जान लिया था कि (तृण-भोजी) पशुओंके मल ज़मीनपर जहाँ-तहाँ खुला पड़ा रहता है तो उनका घाससे लेकर शाक-सब्जी जैसी वस्तुएँ पैदा करनेवाली भूमि तक सभीके द्वारा खादके रूपमें शीघ्र ही उपयोग कर लिया जाता है, जबकि **मांस-भक्षी पशु जन्मजात स्वाभाविक ज्ञानके द्वारा भूमिको खोदकर अपने मलको शरीरसे बाहर निकलते ही ढँकनेके आदी होते हैं।**

प्रकृतिने शरीरमेंसे मल मोचनके लिये मानव शरीरमें जो आश्चर्य-जनक यन्त्र लगाया है उसपर क्षण भरके लिए हम विचार करें। सबसे पहिले

हमें असंदिग्ध रूपसे मनमें यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मानव-मल (human waste matter) उस मलको उत्पन्न करनेवाले व्यक्तिके लिए विषकी तरह खतरनाक है; अतः यदि वह उस मलमें सदा वर्तमान रहने वाले रोगोंके आक्रमणसे बचना चाहता है, तो उसको नियमपूर्वक शीघ्रतासे इन निरर्थक पदार्थोंसे छुटकारा पा लेना चाहिये। हमें दूसरी बात सदाके लिये अच्छी प्रकार समझ लेनी चाहिये कि **सभी प्रकार के मांस-आहारसे उत्पन्न ये निरर्थक मल पदार्थ सबसे अधिक खतरनाक होते हैं।** चिकित्सालय में प्रवेश पानेपर एक मांसाहारी रोगीको बस्ति (Enema), रेचक (purgative) या वमन करवानेवाली औषधि (emetic) या ये तीनों ही देना एक परिचारिका का प्रथम कर्तव्य होता है, जो अनुचित नहीं है।

इंग्लैंडमें अत्यधिक अस्वस्थ हो जानेवाले व्यक्तिके लिये जो साधारण भोजन है वह बहुत ही अस्वाभाविक तथा मूर्खतापूर्ण है। पाश्चात्य लोगोंको उनके माता-पिता द्वारा—जिन्हें स्वयं भी इनकी अपेक्षा अधिक ज्ञान नहीं है—यह शिक्षा दी जाती है कि स्वास्थ्य और शक्तिके लिये मांस ही श्रेष्ठ आहार है। अब तक मद्य-मांस ही इसके लिये उपयुक्त समझे जाते रहे हैं, **किन्तु अब मद्य संबंधी भ्रमका निराकरण हो चुका है और विश्वके बुद्धि-प्रधान और सुसंस्कृत वर्गोंमें मांसकी श्रेष्ठताका भ्रम भी शीघ्रतासे दूर होता जा रहा है।** मध्यवर्गीय और निम्न श्रेणीके लोग ही अस्वस्थ होनेपर चिकित्सालयोंमें ले जाये जाते हैं और अधिकतर ये लोग ही मांसाहारी होते हैं।

मैं जब कभी किसी मांसाहारी बीमारके लिये बुलाया जाता हूँ तो मैं सदा उसी नेगचारको पूरा करता हूँ। शरीरको अधिक परिश्रमके बोझसे एवम् स्वयं विषोत्पादनकी क्रियासे मुक्त करनेके लिये सबसे पहिला काम यही है। इसके विपरीत **मुझे शुद्धाहारी रोगियोंसे काम पड़ता है और यदि उन्हें ४८ घन्टे पूर्व भी शौच हुआ रहता है तो भी मैं निश्चिन्त रहता हूँ क्योंकि ऐसे बीमारका मल घोड़े या गाय जैसा होता है और उसमें सड़ांध और विष पैदा नहीं हुआ करता।** जब हम इन बातोंको स्पष्टतया ग्रहणकर लेते हैं तभी हम अच्छी प्रकार समझ सकते हैं कि प्रकृतिने हमारे शरीरको भीतरी ज़हरसे मुक्त रहनेके लिये हमें कितना आश्चर्यजनक यन्त्र प्रदान किया है।

यह यन्त्र प्रायः एक प्रकारसे निरापद (fool proof) है। किन्तु जिस तरह बहुतसे ऐसे व्यक्ति भी है जो जिस मोटर-गाड़ीको चलाते हैं उसीको

खराब कर डालते हैं और जिनके पास कोई भी घड़ी अधिक काल तक ठीक समय नहीं देती, उसी तरह बहुत बड़ी संख्यामें ऐसे लोग भी हैं जो न तो अपने और न अपने बच्चोंके पाचन क्रिया वाले अवयवोंके सुकुमार यन्त्रोंकी ठीकसे सम्भाल कर सकते हैं।

सभी पीठकी रीढ़वाले प्राणियोंका निर्माण एक खोखली लम्बी नल्की (tube) के आधारपर हुआ है जिसके चारों ओर स्नायु नाड़ियाँ और रक्त परिवाहक अंग (Circulatory organs) बने हैं। खायी हुई वस्तु इस नलीके एक ओरसे प्रवेश करती है और धीरे-धीरे आगे बढ़ती हुई दूसरी ओरसे निकल जाती है। जैसे-जैसे यह आगे बढ़ती है, पाचक रसोंकी रासायनिक क्रिया इसपर होती रहती है और वे इसमेंके विविध पोषण-द्रव्यों को आत्मसात कराते रहते हैं और बचे हुए मैलेको बाहरकी ओर ढकेलती रहती हैं। शरीरके जीवित पदार्थोंके अनुपयोगी अंश भी थोथी नलीके इस भागमें फेंके जाते हैं, जो आगे जाकर मल-निकासी-नाली (Sewage tube) का रूप धारणकर लेती है और क्रमशः यें चीजें इस नलीके अन्त तक पहुँचा दी जाती हैं जहाँसे वे बाहर निकल जाती हैं। यह सिद्धान्त कितना सीधा-सादा है, प्रयोगमें कितना सुन्दर है ; यह यंत्र प्रायः एक सौ वर्षोंतक कार्य करते रहनेके लिये बनाया गया है, किन्तु मूर्ख लोग अवधिके पूर्व ही इसको खराब कर डालते हैं।

इस यन्त्रके सुचारु-रूपसे चालू रहनेके लिये मनुष्यके लिये उचित है कि—

१. इसके ढांचेकी बनावटके अनुरूप ही इसमें खानेकी वस्तु डाले ;
२. खाद्य पदार्थ ऐसी अवस्थामें डाले जिससे इस पर यह यन्त्र सरलतासे अपनी क्रिया कर सके ;
३. इतनी मात्रामें डाले जो शरीरकी आवश्यकताके अनुकूल हो ;
४. इतने समयके अन्तरसे डाले कि जिससे इस यन्त्रको विश्रामका तथा कोई खराबी आ गयी हो तो उसकी मरम्मतके लिये पर्याप्त अवसर मिल सके।

मांसाहारका त्यागकर देना चाहिये। मांसाहार आंतोंकी लयके समीचीन व्यापारमें रुकावट डालता है। मांसाहारसे जो अनुपयोगी पदार्थ (मल)

बचता है, वह सड़कर बड़ी आंतोंकी पेशियों (Colonic muscles) में रुकावट डालनेवाला विषैला प्रभाव उत्पन्न करता है। मांसाहारके अनुपयोगी पदार्थों (Waster matter) से शरीर पर इतना भारी स्वाभाविक विषैला प्रभाव उत्पन्न होता है कि प्रकृतिने इसी कारण मांस-भक्षी पशुओंकी बड़ी आंत लम्बाईमें छोटी बनाई है जिससे कि सड़नेंवाला अनुपयोगी पदार्थ (Decomposing matter) पशु-शरीरमें आवश्यकतासे अधिक एक क्षण भी और न ठहर सके। प्रकृतिने आस-पासमें रहनेवाले अन्य प्राणियोंके लिये इसके हानिकारक भयंकर परिणामोंको इस बातसे भी स्पष्टतया जता दिया है कि उसने मांस-भक्षी पशुओंको यह स्वाभाविक समझ दी है कि जिससे वे जमीनमें गढ़ा-सा खोदकर उसमें मल विसर्जन करते हैं और फिर उसको ढँक देते हैं क्योंकि यह वस्तु जहाँ-तहाँ खुली पड़ी रहनेसे बड़ी हानिकारक है।

पाश्चात्य संस्कृतज्ञोंकी नीयत

(परलोकगत श्रीभगवद्दत्तके 'Western Indologists : A Study in Motives' का हिन्दी अनुवाद)

योरोपवासियोंकी भारत एवं इसके प्राचीन साहित्यके प्रति अभिरुचि— संवत् १८१४ में पलासीका युद्ध हुआ जिसने भारतके भाग्यको अवरुद्ध कर दिया। इस युद्धके पश्चात् वंगदेश अंग्रेजोंके आधिपत्यमें चला गया। संवत् १८४० में कलकत्ताके फोर्ट विलियम नामक अंग्रेजी उपनिवेशमें सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) प्रधान न्यायाधीश बना। उसने संवत् १८४६ में महाकवि कालिदास कृत 'शकुन्तला' नाटकका और संवत् १८५१ में 'मनुस्मृति' का अंग्रेजी अनुवाद किया और इसी वर्ष जोन्सका देहान्त हो गया। जोन्सके कनिष्ठ सहकारी सर हेनरी टामस कोलब्रूक (Sir Henry Thomas Colebrooke) ने संवत् १८६२ में "आन दि वेदाज्" (On the Vedas) नामक एक वेद-विषयक निबन्ध लिखा।

संवत् १८७५ में जर्मन देशके बोन विश्वविद्यालय (Bonn University) में आगस्ट विल्हेल्म फान श्लेगल (August Wilhelm von Schlegel) प्रथम संस्कृत अध्यापक बना। इसका भ्राता फ्रीड्रिश श्लैगल (Friedrich Schlegel) था। उसने संवत् १८६५ में "हिन्दुओं के वाङ्मय और प्रज्ञापर" (Upon the Languages and Wisdom of the Hindus) नामक एक ग्रन्थ लिखा। दोनों भ्राताओंने संस्कृतके प्रति अगाध प्रेम दिखाया। आगस्ट श्लैगलके साथ हर्न विल्हेल्म फान हम्बोल्ट (Hern Wilhelm von Humbolt) नामका एक और संस्कृतका विद्वान सहयोगी बना। श्लैगलकी भगवद्गीताके कारण हम्बोल्टका ध्यान इसके अध्ययनकी ओर गया। संवत् १८८४ में उसने अपने एक मित्रको लिखा—"विश्वकी यह सम्भवतः अगाध और उच्चतम वस्तु है[1]।" उसी

1. It is perhaps the deepest and loftiest thing the world has to show.

कालमें प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक आर्थर शोपेनहावर (Arthur Schopenhauer)(वि० सं० १८४५-१९१७) ने फ्रेंच लेखक अङ्क्वेटिल दु पेरों (Anquetil du Perron) (वि० सं० १७८८-१८६२) द्वारा किया हुआ उपनिषदोंका लैटिन अनुवाद (वि० सं० १८५८-१८५९) पढ़ा जो शाहजादा दारा शिकोह द्वारा किये गये फारसी अनुवादसे किया गया था जिसको 'सीरे अकबर'—'महत् रहस्य' नाम दिया गया था। उसने उपनिषदोंके तत्वज्ञानसे अत्यधिक प्रभावित होकर लिखा—'उपनिषद् मानव-ज्ञानकी सर्वोच्च उपज है[1]', 'इनमें प्रायः श्रेष्ठ मानवीय विचार निहित हैं[2]'। (अनुवाद रूपमें) उपनिषदोंका अध्ययन उनके लिये बहुत प्रेरणादायक तथा आत्म-संतोषका साधन बना। उन्होंने लिखा है—"(मूल ग्रन्थके पाठके अतिरिक्त) इसका पाठ संसारमें उपलब्ध या संभाव्य सबसे अधिक सन्तोषप्रद और आत्मोन्नतिका साधन है, यह मेरे जीवनके लिये सान्त्वनादायक रहा है, और यह मेरी मृत्युके समय भी सान्त्वनादायक होगा[3]।" यह सुविख्यात है कि लैटिन 'औपनेखत्' (उपनिषद्) ग्रन्थ उनकी मेजपर सदा रक्खा रहता था, और सोनेके पूर्व वे नित्य नियमपूर्वक इसका अध्ययन किया करते थे। उन्होंने बताया कि संस्कृत साहित्यका उद्‌घाटन हमारी शताब्दीकी सबसे बड़ी देन है और भविष्यवाणी की कि उपनिषदका दर्शन और अध्यात्म-ज्ञान पश्चिम का सर्वप्रिय धर्म हो जायगा।

उस अभिरुचिका परिणाम—ऐसे लेखोंने संस्कृत सीखनेके लिये अनेक जर्मन विद्वानोंको अधिकाधिक आकर्षित किया तथा उनमेंसे अनेक व्यक्ति भारतीय संस्कृतिको बहुत श्रद्धास्पद समझने लगे। जर्मन अध्यापक विण्टरनिज् (Prof. Winternitz) ने उनकी सम्मानकी भावना एवं उत्साहका निम्नलिखित शब्दोंमें वर्णन किया है—

1. The production of the highest human wisdom, ('A History of Indian Literature' by M. Winternitz, English translation, Vol. I, p 20, 1927 A.D. edition).
2. Almost superhuman conceptions. Ibid, p. 266,
3. It is the most satisfying and elevating reading (with the exception of the original text) which is possible in the world; it has been the solace of my life and will be the solace of my death. Ibid. p: 267.

"जब पश्चिमने सर्वप्रथम भारतीय वाङ्मयका परिचय प्राप्त किया तब भारतसे आनेवाली प्रत्येक साहित्यिक कृतिको वहाँके लोग सहज ही अति प्राचीन युगकी मान लेते थे। वे भारतको मनुष्य जातिका अथवा कमसे कम मानव-सभ्यताका उद्‌गम-स्थल मानते थे[1]।"

यह प्रभाव स्वाभाविक एवं सहज स्फुरित था। यह सत्यपर आधारित था एवं पक्षपातरहित था। भारतीय ऋषियों द्वारा प्रदत्त ऐतिहासिक तथ्य सत्य एवं अटूट परम्परापर आधारित थे। उनके दार्शनिक सिद्धान्त जीवनके उद्‌गम एवं रहस्योंकी गहराइयोंमें पैठे हुए थे तथा शाश्वत नियमोंके प्रतिपादक थे। पाश्चात्य जगत्‌को जब पहले-पहल इनका पता लगा तब अनेक धर्मान्धिता रहित विद्वान इनकी विलक्षण सच्चाई और गहन ज्ञानसे बहुत प्रभावित हुए तथा जाति और मतके दबावमें न आकर वे लोग मुक्त कण्ठसे इनकी प्रशंसा किया करते थे। ईसाई जगतके सच्चे व्यक्तियों द्वारा की गयी अनुरागपूर्ण प्रशंसाने ऐसे यहूदियों तथा ईसाई पादरियोंके बीच एक तहलका मचा दिया जो स्वयं अपने धर्मशास्त्रों एवं परम्पराओंके वास्तविक अर्थसे भी उतने ही अनभिज्ञ थे जितने भारतीय धर्मशास्त्र एवं परम्परासे। वे केवल पौलीन ईसाइयत (Pauline Christianity) के रूढ़िवादी आदेशोंके ही माननेवाले थे जिन्होंने उनको अन्य धर्मोंके प्रति असहिष्णु बना दिया था।[2]

---

1. When Indian literature became first known in the West, people were inclined to ascribe a hoary age to every literary work hailing from India. They used to look upon India as something like the cradle of mankind, or atleast of human civilization.
 कलकत्ता विश्वविद्यालयमें व्याख्यान, मास अगस्त, सन् १९२३, पृष्ठ ३.

2. Intolerance was inherent in all the Semitic faiths and was responsible for the crusades, jehads and the institution of thc Inquistion. A century before the time of Schopenhauer, Voltaire also fell a victim to the wrath of the clergy. He wrote an Essay on the Morals and the Spirit of the Nations, which offended everybody because it told the truth. It spoke highly of the ancient cultures of India, China and Persia and relegated Judea and Christendom to a relatively inferior position. How could then he be forgiven for 'so unpatriotic a revelation'? He was exiled for a second time by the French Government. (Vide 'The Story of Philosophy', by Will Durant. p. 241.)

हमारे इस निष्कर्षके औचित्यका निर्णय हेनरिश ज़िमर (Heinrich Zimmer) के निम्नलिखित कथनसे हो सकता है—

"पाश्चात्य विद्वानोंमें शोपेनहावर (Schopenhauer) पहले व्यक्ति थे जिन्होंने योरोपके ईसाई वातावरणके भारी मेघगर्जनके बीच भी इस सम्बन्ध में अतुलनीय ढंगसे उद्घोष किया[1]।"

हठधर्मी ईसाई और यहूदियोंके मतसे सहमत न होनेवालोंके प्रति ये लोग कितने प्रतिशोध परायण होते हैं—यह बात 'The Religion of the Semites' के लेखक तथा Free Church College, Aberdeen, में यहूदी भाषा के प्राध्यापक राबर्टसन् स्मिथ (Robertson Smith—1846-94 A.D.) के भाग्य-निर्णयसे भलीभांति स्पष्ट हो जाती है। अपने वैज्ञानिक अनुसन्धानोंके सम्बन्धमें स्पष्ट और निर्भीक कथनके लिये उनको जो दण्ड भोगना पड़ा, उसका वर्णन लेविस स्पेंस (Lewis Spence) द्वारा निम्न शब्दोंमें किया गया है—

"बाइबलपर विश्वज्ञानकोषमें प्रकाशित लेखके प्रचलित मतसे विरोधी होनेके कारण उनपर नास्तिकताका मुकदमा चलाया गया जिसमें तो वे निर्दोष बताकर मुक्त कर दिये गये। किन्तु 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (१८८०)' में प्रकाशित 'यहूदी भाषा और साहित्य' पर लिखे गये एक और लेखके लिये उनको कालेजके प्रोफेसर पदसे अलग हटना पड़ा[2]।"

---

1. "He (Schopenhauer) was the first among the Western people to speak of this in an incomparable manner—in that great cloud-burst of European-Christian atmosphere." (New Indian Antiquary, April 1938, p. 67)

2. "The heterodox character of an encyclopaedia article on the Bible led to his prosecution for heresy, of which charge, however, he was acquitted. But a further article upon 'HEBREW LANGUAGE AND LITERATURE' in the Encyclopaedia Britannica (1880) led to his removal from the professoriate of the College." (An Introduction to Mythology New York,—Date of publication not indicated in the book.)

प्रधान कारण

यहूदी और ईसाई पक्षपात—प्राचीन यहूदी आर्योंके वंशज थे। उनकी धारणाएँ आर्यों जैसी ही थीं। उनके आदिपुरुष जिनको वे 'आदम' कहते हैं, मानव-जातिको उत्पन्न करनेवाले 'ब्रह्मा' थे। यह यहूदी नाम 'आत्मभू' से बना है जो ब्रह्माकी ही एक उपाधि है। ब्रह्माने सृष्टिके आरम्भमें सब पदार्थोंका और जीवोंका नामकरण किया (मनु० १.२१)। यहूदियोंकी परम्पराके अनुसार आदमने भी ऐसा ही किया था। प्रत्येक जीवको आदमने जो नाम दिया वही उसका नाम पड़ गया। आगे चलकर ये यहूदी लोग अपने इतिहास और पूर्वजोंको भूल गये और वे संकीर्ण विचार के हो गये। वे अपने आपको सभी जातियोंसे प्राचीनतम मानने लगे[1]। सन् १६५४ ईस्वीमें आयरलैण्डके आर्कबिशप उशर (Archbishop Usher) ने दृढ़तासे यह घोषणा की कि उनके शास्त्रोंके अध्ययनने यह प्रमाणित किया है कि सृष्टिका निर्माण ईसासे ४००४ वर्ष पूर्व हुआ है। अतः सत्रहवीं शताब्दी के अन्तसे योरोपके लोगों द्वारा यह कालनिर्णय स्वीकार कर लिया गया और वे यह विश्वास करने लगे कि आदमकी उत्पत्ति ईसासे ४००४ वर्ष पूर्व हुई थी।[2]

अतः आधुनिक यहूदियों एवं स्वमताभिमानी ईसाइयोंकी बहुत बड़ी संख्याके लिये विशेषतः बहुत-से संस्कृतके अध्यापकोंके लिये इन विचारोंसे सामञ्जस्य करना बड़ा कठिन हो गया कि कोई जाति या सभ्यता

---

1. that the Jewish race is by far the oldest of all these. ('Fragments of Magasthenes,' p. 103)

2. "Archbishop Usher's famed chronology, which so long dominated the ideas of man………" (Historians History of the World, Vol.I, 1908, p. 626.)

   Duncan Macnaughton in his 'A scheme of Egyptian Chronology', London, 1932, writes :—

   "It is strange to see that Wilkinson placed Menes (or Manu, the first king of Egypt) as low as 2320, but it is to be remembered that in 1836 English speaking scholars were still under the hypnotic influence of Usher's Biblical Chronology. The dates printed in the Bible were regarded as sacred, and it was positively wicked to disregard them." (p.6).

उन लोगों के द्वारा माने गये आदमके कालसे भी प्राचीन हो सकती है। भारतवर्षके साहित्य और सभ्यताके सम्बन्धमें उदार मनोवृत्तिवाले साथी विद्वानों द्वारा कथित अति प्राचीनतासे वे लोग क्रुद्ध थे और विशेष करके मानवकी आदि उत्पत्तिके सम्बन्धमें तो बहुत ही क्रुद्ध थे। इस बद्धमूल पक्षपातके सम्बन्धमें ए. एच. सेस (A. H. Sayce) महोदय लिखते हैं—

> "परन्तु जहाँ तक मानव-इतिहासका सम्बन्ध है वह अभी तक हमारी बाइबलमें लिखी गयी तिथियोंकी परिधि तक ही सीमित था। मनुष्यकी अर्वाचीन उत्पत्तिकी यह पुरानी धारणा आज भी उन लोगोंमें प्रबल है जहाँ हमें इसके होनेकी सबसे कम आशा थी और तथाकथित समालोचक इतिहासज्ञ प्राचीन इतिहासकी तिथियोंकी प्राचीनताको कम करनेके लिये यत्नशील रहते हैं।......... ४००४ वर्ष ईसापूर्व अथवा उसके आसपास संसारका सृजन हुआ था—इस विश्वासमें पली पीढ़ीके लिये यह विचार विश्वास योग्य और बुद्धिगम्य नहीं है कि मनुष्य अपनी जातिको एक लाख वर्षसे भी पुरानी माने[1]।"

इस बद्धमूल पक्षपातके अस्तित्वके अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। किन्तु मानव-शरीर-रचना-शास्त्रके बहुत बड़े विशेषज्ञके उपर्युक्त उद्धरण ही पर्याप्त हैं।

---

1. "But as far as man was concerned, his history was still limited by the dates in the margins of our Bibles. Even today the old idea of his recent appearance still prevails in quarters where we should least expect to find it, and so-called critical historians still occupy themselves in endeavouring to reduce the dates of his earlier history...............To a generation which had been brought up to believe that in 4004 B.C. or thereabout, the world was being created, the idea that man himself went back to 100,000 years ago was both incredible and inconceivable." ('Antiquity of civilized Man'—Journal of the Royal Anthropological Institute of Great Britain and Ireland. Vol. 60, July-Dec. 1930.)

योरोपमें संस्कृतका अध्ययन चालू रहा और पनपता गया तथा साथ ही साथ गिरजाघरोंके पादरियोंके प्रकृतिगत पूर्वाग्रहकी उत्तेजनासे प्रभावित होकर विद्वानोंकी राय और निर्णय बहुत शीघ्रताके साथ विकृत होते चले गये। वि० सं० १८५८ से १८९७ तक इयूजेन बर्नफ (Eugene Burnouf) नामक एक संस्कृतका अध्यापक फ्रांसमें था। उसके दो जर्मन शिष्य थे—(१) रूडल्फ राथ (Rudolph Roth) और (२) मैक्समूलर (Max Muller) जिसने बादमें योरोपके संस्कृतके विद्वानोंमें अच्छी ख्याति प्राप्त की थी।

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयमें संस्कृतके बोडन प्राध्यापक-पद (Boden Chair) का उद्देश्य—संवत् १८९० में होरेस हेमन विलसन (Horace Hayman Wilson) आक्सफोर्डमें बोडनके नामसे स्थापित संस्कृतके प्राध्यापक पदपर आसीन हुए। उसके उत्तराधिकारी प्राध्यापक एम० मोनियर विलियम्स (Prof. M. Monier Williams) ने कर्नल बोडन द्वारा जिस उद्देश्यसे इस प्राध्यापक पद (chair) की स्थापना की गयी थी उसकी ओर निम्नलिखित शब्दोंमें विद्वानोंका ध्यान आकर्षित किया है--

"मुझे इस तथ्यकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है कि मैं बोडन प्राध्यापक-पदका दूसरा ही अधिकारी हूँ। इसके संस्थापक कर्नल बोडनने अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें दिनांक १५अगस्त सन् १८११, संवत् १८६८ के अपने इच्छा-पत्र (will) में लिखा है कि उसकी इस उदारतापूर्ण भेंटका विशेष उद्देश्य यह था कि ईसाई धर्मग्रन्थोंका संस्कृतमें अनुवाद किया जाय, जिससे भारतीयोंको ईसाई बनानेके काममें हमारे देशवासी आगे बढ़ सकें[1]।"

---

1. I must draw attention to the fact that I am only the second occupant of the Boden chair, and that its Founder, Colonel Boden, stated most explicitly in his will (dated August 15, 1811 A.D.) that the special object of his munificent bequest was to promote the translation of Scriptures into Sanskrit, so as 'to enable his countrymen to proceed in the convertion of the natives of India to the Christian religion.' (Sanskrit English Dictionary, by Sir Monier Williams, preface, p. ix).

पूर्वाग्रहयुक्त संस्कृतके प्राध्यापक

१. प्रोफेसर विल्सन् (Prof. Wilson) एक बहुत भले व्यक्ति थे, किंतु जिस पदपर वे आसीन थे उसके संस्थापक द्वारा निर्दिष्ट उद्देश्योंके प्रति उनका कुछ कर्तव्य था। अतः उन्होंने एक पुस्तक लिखी—हिन्दुओंकी धार्मिक और दार्शनिक पद्धति[1] तथा इस पुस्तककी रचनाका आशय स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

> "ये व्यांख्यान उन उम्मीदवारोंकी सहायताके निमित्त लिखे गये थे जो हिंदुओंकी धार्मिक पद्धतिका भलीभांति खण्डन करके हेलीबरी (Haileybury) के प्रसिद्ध वयोवृद्ध सज्जन एवं संस्कृतके बड़े विद्वान जान म्यूर (John Muir) द्वारा प्रदत्त दो सौ पौण्डका पारितोषिक प्राप्त कर सकें[2]।"

इस उद्धरणसे सुविज्ञ पाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि योरोपियन विद्वानोंके उद्देश्य कहाँ तक वैज्ञानिक कहे जा सकते हैं, उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कहाँ तक पक्षपातरहित एवं विश्वसनीय कहे जा सकते हैं और उनके द्वारा खींचा हुआ भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका चित्र कहाँ तक यथार्थ हो सकता है।

२. उसी प्रकारकी पक्षपातपूर्ण मनोवृत्तिको लेकर पूर्वोल्लिखित विद्वान् रूडोल्फ राथ (Rudolph Roth) ने वैदिक साहित्य और वेदके इतिहास पर जर्मन भाषामें एक सोद्देश्य निबन्ध (thesis Zur Literatur und Geschichte Des Veda)[3] लिखा। संवत् १९०९ में उनके द्वारा सम्पादित यास्कका निरुक्त नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। उन्हें अपनी विद्वत्ताका तथा जर्मन जातिकी प्रतिभाका अत्यन्त अभिमान था। उन्होंने

1. The Religious and Philosophical system of the Hindus.
2. These lectures were written to help candidates for a prize of £ 200 given by John Muir, a well known old Haileybury man and great Sanskrit scholar,—for the best refutation of the Hindu Religious system. (Eminent Orientalists, Madras, p. 72)
3. English translation published in the Journal of the Asiatic Society of Bengal, 1847.

जोर देकर लिखा है कि जर्मनीके भाषाविज्ञान-शास्त्रकी सहायतासे वेदमन्त्रों का निरुक्तकी अपेक्षा अधिक अच्छा अर्थ किया जा सकता है[1]। इस प्रकार की और भी कई अभिमानपूर्ण अनर्गल बातें उन्होंने लिखी थीं।

३. उसी प्रकारके पाण्डित्याभिमानका प्रदर्शन व्हिटने (W. D. Whitney) के लेखमें भी पाया जाता है— "एकमात्र जर्मन विचारकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही वेदको यथार्थ रूपमें समझनेके लिये हमें सदा मार्ग दिखा सकते हैं[2]।"

४. मैक्समूलर—मैक्समूलर और राथ (Roth) सहपाठो थे। मैक्समूलरके ऊपर उनके अध्यापककी छाप तो थी ही, इसके अतिरिक्त, २८ दिसम्बर १८५५ ईस्वीके दिन लार्ड मकोले (Lord Macaulay) के साथ उनकी भेंटने भी उनके भारत-विरोधी विचारोंको उभाड़नेमें बड़ा भारो काम किया। मैक्समूलर एक घण्टे तक मूक रहे जबकि लार्ड मकोले जैसे इतिहासज्ञ एकदम विरोधी विचारोंको धारा प्रवाह उड़ेलते रहे और वे उसके सम्मुख एक शब्द भी नहीं बोल सके। इसके बाद उनको छुट्टी मिली। मैक्समूलर लिखते हैं—"मैं बहुत उदास होकर साथ ही अपेक्षाकृत अधिक समझदार बनकर आक्सफोर्ड लौटा[3]।"

मैक्समूलरका नाम भारतीय जनतामें दो कारणोंसे बहुत प्रसिद्ध हुआ, जिसमें पहला कारण था उनका अनेक बड़े-बड़े ग्रंथोंका रचना-कार्य एवं दूसरा था स्वामी दयानन्द सरस्वती (वि॰सं॰ १८८१-१९४०) द्वारा जनताके सम्मुख दिये व्याख्यानों और लेखोंमें उनके विचारोंकी तीव्र आलोचना। मैक्समूलरके विचार उनके निम्नलिखित वचनोंसे जाने जा सकते हैं—

---

1. राथने निरुक्तके संस्करणकी अपनी भूमिकामें ऐतरेय ब्राह्मणके एक वचनका भ्रष्ट अनुवाद किया है। गोल्डष्टकरने उस अशुद्ध अनुवाद पर लिखते हुए राथकी योग्यतापर उपहास किया है।
2. "The principles of the 'German School' are the only ones which can ever guide us to a true understanding of the "Veda". (American or. Soc.Proc.. Oct., 1867.)
3. "I went back to Oxford, a sadder man and a wiser man". (Life and Letters of Max Muller, Vol. I Ch. IX Page 171.

(क) "इतिहास ऐसी शिक्षा देता हुआ प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण मानव जातिको धीरे-धीरे शिक्षित होना आवश्यक है ताकि समय पाकर वह ईसाई धर्मकी सच्चाईको हृदयंगम कर सके। उच्चतर सच्चाईके प्रकाशको तत्परतासे ग्रहण करनेके पूर्व मनुष्यको तर्ककी सब भ्रांतियोंसे छुटकारा पाना पड़ेगा। विश्वके प्राचीन धर्म प्रकृतिके दूध (शिशु भोज) मात्र थे. समय पाकर जिसका स्थान जीवन-धारणके लिये आवश्यक रोटीको ग्रहण करना था………। बौद्ध-धर्म आर्य-जगत्की सीमाओंसे कहीं दूर तक फैल चुका है तथा हमारी सीमित दृष्टिको ऐसा लग सकता है मानो मानव जातिके एक बहुत बड़े भागमें इसने ईसाई धर्मके प्रचारकी प्रगतिको अवरुद्ध कर दिया है। किन्तु उस नियन्ताकी दृष्टिमें, जिसके लिये हजारों वर्षका समय एक दिवसके तुल्य है, विश्वके पुराने धर्मोंकी तरह बौद्ध-धर्मने भी अपनी भूलों द्वारा ईश्वरकी सच्चाईको जाननेके लिये मानव-हृदयकी अमिट भूखको बढ़ाकर एवं पुष्ट करके ईसाके लिये मार्ग प्रशस्त करनेका ही काम किया है[1]।"

---

1. "History seems to teach that the whole human race required a gradual education before, in the fullness of time, it could be admitted to the truths of Christianity. All the fallacies of human reason had to be exhausted, before the light of higher truth could meet with ready acceptance. The ancient religions of the world were but the milk of nature, which was in due time to be succeeded by the bread of life ....'The religion of Buddha has spread far beyond the limits of the Aryan world, and to our limited vision it may seem to have retarded the advent of Christianity among the large portion of human race. But in the sight of Him with whom a thousand years are but as one day, that religion, like the ancient religions of the world, may have but served to prepare the way of Christ, by helping, through its very errors to strengthen and to deepen the ineradicable yearning of the human heart after the truth of God." (History of Ancient Sanskrit Literature, p.32, 1860)

(ख) "वैदिक सूक्तोंकी एक बड़ी संख्या बालकों जैसी अत्यन्त मूर्खता-पूर्ण है साथ ही जटिल, निम्नकोटिकी और साधारण है[1]।"

(ग) "इतना ही नहीं, उन वेदोंमें साधारण, स्वाभाविक और बालकोचित विचारोंके साथ-साथ बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो हमको आधुनिक अथवा दूसरी श्रेणीकी एवं तृतीय श्रेणीकी-सी लगती है[2]।"

विश्वके अत्यन्त प्राचीन एवं उच्च वैज्ञानिक धर्मग्रंथके सम्बन्धमें ऐसे नास्तिकतापूर्ण निन्दा करनेवाले वाक्य ईसाई-मतके हठधर्मी निम्नश्रेणीके पूजक अथवा अधर्मी नास्तिक व्यक्तिके मुँहसे ही निकल सकते हैं। मैक्समूलर ईसाई-धर्मके अतिरिक्त प्रत्येक धर्मका, जिनको वह अविकसित माना करता था, हृदयसे कट्टर विरोधी था। उसकी धार्मिक असहिष्णुता जर्मन विद्वान् डा० स्पीगल (Dr. Spiegel) के एक लेखपर उसके द्वारा की गयी कड़ी आलोचनासे स्पष्ट है जिसमें डा० स्पीगलने यह बताया है कि विश्व-सृजनके लिये बाइबलकी कल्पना प्राचीन पारसी या ईरानी धर्मका अनुकरण है। इस वक्तव्यसे मर्माहत होकर मैक्समूलरने लिखा है—

"डा० स्पीगलके सदृश लेखक को जानना चाहिये कि वह कोई दयाकी आशा नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, उसे स्वयंके लिये किसी प्रकारकी दयाकी इच्छा न करके बाइबलकी आलोचनाकी तूफानी तरंगोंमें जो युद्ध-पोत उसने उतारा है, उसके विरुद्ध उसे गोलोंकी भारी बौछारकी ही आशा करनी चाहिये[3]।" (कितने आश्चर्यकी

---

1. "Large number of Vedic hymns are childish in the extreme; tedious, low, commonplace, ('Chips from a German workshop', second edition, 1866, p. 27.)

2. "Nay, they (the Vedas) contain, by the side of simple, natural, childish thoughts, many ideas which to us sound modern, or secondary and tertiary." (India; what can it teach us', Lecture IV. p. 118, 1882.)

3. "A writer like Dr. Spiegel should know that he can expect no mercy; nay, he should himself wish for no mercy, but invite the heaviest artillery against the floating battery which he has launched in the troubled waters of Biblical criticism"

('Chips from a German Workshop', Genesis and the Zend Avesta, p. 147.)

बात है कि डा० स्पीगलके विचारोंका इस सीमा तक हमारा इतिहास भी समर्थन करता है कि बाइबलकी उक्तियाँ परसिया, बबीलोनियन तथा मिश्रके धर्मग्रन्थोंसे उद्भूत हैं जिनमें विश्वके प्राचीन इतिहासके अनुसार ये बातें वेदोंसे ली गयी बतायी गयी हैं ।)

पाश्चात्य वैज्ञानिक पाण्डित्यके भक्त मैक्समूलर एक अन्य स्थानपर लिखते हैं—

"यदि इन सब बातोंके होते हुए भी, बहुत-से आशावादी लोग, बड़े विश्वासके साथ पारसियोंका धर्मान्तर करनेकी बहुत बड़ी आशा करते हैं, तो इसका कारण यह है कि अनजानमें ही क्यों न हो, पारसी लोग पहलेसे ही मूल विषयोंमें ईसाई धर्मके अनेक पवित्र सिद्धान्तोंके यथासंभव निकट आ चुके हैं। पारसी लोग 'जेन्द अवेस्ता' को पढ़कर देखें, जिसमें वे लोग अपने विश्वासका दावा करते हैं, तो उन्हें पता लगेगा कि उनका मत अब यस्न (Yasna) वेण्डिडड (Vendidad) और विसपेरेड (Vispered) का मत नहीं है। यदि समालोचनात्मक रूपसे व्याख्या की जाय तो पुरातन जगत सम्बन्धी बृहत् ज्ञान-भण्डारमें इतिहासकी सामग्रीके रूपमें इन ग्रन्थोंका सदा प्रमुख स्थान रहेगा। किन्तु धार्मिक-विश्वासकी आप्तवाणीके रूपमें अब ये अप्रचलित हैं, और इस युगमें तो यह केवल भ्रमोत्पादक हैं[1] ।"

---

1. If in spite of all this, many people, most expectant to Judge, look forward with confidence to the conversion of the Parsis, it is because, in the most essential points, they have already, though unconsciously approached as near as possible to the pure doctrines of Christianity. Let them but read Zend-Avesta, in which they profess to believe, and they will find that their faith is no longer the faith of the Yasna, the Vendidad and the Vispered. As historical relics, these works, if critically interpreted, will always retain a pre-eminent place in the great library of the ancient world. As oracles of religious faith, they are defunct, and a mere anachronism in the age in which we live. ('Chips from a German Workshop' The modern Parsis. p. 180.)

सरसरी नजरसे देखनेपर भी इन पंक्तियोंमें ईसाई-धर्मोन्मादके लक्षण स्पष्ट दीख पड़ते हैं। यदि भारतीय संस्कृतिको मैक्समूलर सरीखे धर्मान्ध व्यक्तिकी लेखनीसे यदाकदा प्रशंसा मिली है तो वह केवल उस संस्कृतिकी अनुपम महत्ता और श्रेष्ठताके कारण मिली है।

मैक्स-मूलर और जकोलियट (Max Muller and Jacolliot)—चन्दननगरके प्रधान न्यायाधीश फ्रेञ्च विद्वान् लुई जकोलियट (Louis Jacolliot) ने संवत् १९२६ में 'La Bible dans L'inde' (भारतमें बाइबल)नामक ग्रन्थ लिखा। अगले वर्ष उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। उस ग्रन्थमें विद्वान् लेखकने सिद्ध किया है कि संसारकी सभी प्रधान विचारधारायें प्राचीन आर्य विचारधारासे निकलीं हैं। उसने भारत भूमिको मानवता की जन्मदात्री (Cradle of Humanity) बताया है—

> "प्राचीन भारत भूमि ! मानवताकी जन्मदात्री ! नमस्कार। पूजनीय मातृभूमि !—जिसको शताब्दियोंसे होनेवाले नृशंस आक्रमणोंने अभी तक विस्मृतिकी धूलके नीचे नहीं दबाया, तेरी जय हो। श्रद्धा, प्रेम, काव्य एवं विज्ञानकी पितृभूमि ! तेरा अभिवादन। हम अपने पाश्चात्य भविष्यमें तेरे अतीतके पुनरागमनका जय-जयकार मनावें[1]।"

मक्समूलरको यह पुस्तक बहुत बुरी लगी। उसने इसकी आलोचनामें लिखा है—"लेखक भारतीय ब्राह्मणोंसे प्रभावित प्रतीत होता है[2]।"

मेक्समूलरके पत्र—किसीके व्यक्तिगत पत्र उसके हार्दिक भावोंका सच्चा चित्रण करते हैं। अपने सम्बन्धियों और मित्रोंको लिखे गये पत्रोंमें व्यक्ति अपने आंतरिक भावोंका प्रकाश करता है। ऐसे पत्र उस व्यक्तिकी वास्तविक प्रकृति तथा चरित्रको जाननेमें बड़े सहायक होते हैं। सौभाग्यसे

1. "Land of ancient India ! Cradle of humanity, hail ! Hail, revered motherland, whom centuries of brutal invasions have not yet buried under the dust of oblivion. Hail, Fatherland of faith of love, of poetry and of secience; may we hail a revival of thy past in our Western future." (Refer to quotation from Winternitz in para 3 from the beginning of this chapter. Probably Winternitz refers to Jacolliot.)
2. "The author seems to have been taken in by the Brahmins in India".

मैक्समूलरके अनेक पत्रोंका संग्रह दो खण्डोंमें छपा है[1]। इन पत्रोंके कुछ उद्धरण उस व्यक्तिके मनका दिग्दर्शन करानेके लिये पर्याप्त होंगे जिसको पश्चिममें अपने संस्कृत-ज्ञान तथा पक्षपात रहित निष्कर्षोंके लिये बड़ी प्रशंसा प्राप्त है।

(क) सन् १८६६ (वि० संवत् १९२३) के एक पत्रमें वे अपनी पत्नी को लिखते हैं—

"वेदके अनुवादका मेरा यह संस्करण उत्तरकालमें भारतके भाग्यपर पर्याप्त प्रभाव डालेगा।......यह उनके धर्म का मूल है। मैं निश्चयपूर्वक अनुभव करता हूँ कि गत तीन सहस्र वर्षोंसे वेदोंसे उद्भूत सब कुछको उन्मूलन करनेका एकमात्र उपाय है कि उन्हें उनके धर्म का मूल कैसा है—यह बताया जाय[2]।

(ख) एक दूसरे पत्रमें वे अपने पुत्रको लिखते हैं—

"क्या तुम बताओगे कि वह एक कौन-सी पवित्र पुस्तक है जो संसारकी अन्य सभी पुस्तकोंसे श्रेष्ठ है?......मैं कहता हूँ कि 'न्यू टेष्टामेण्ट' ही ऐसा ग्रन्थ है। इसके पश्चात् मैं कुरान-को स्थान देता हूँ जो नैतिक शिक्षामें न्यू टेष्टामेण्ट के रूपांतरसे अधिक कुछ नहीं है। इसके पश्चात् मेरे मतके अनुसार क्रमशः 'ओल्ड टेष्टामेण्ट', 'दक्षिणीय बौद्ध त्रिपिटक', 'दी टाओटे किंग ऑफ लाओट्जे', 'दि किंग ऑफ कन्फ्यूसियस', 'वेद' और 'अवेस्ता' हैं[3]।

---

1. Life and letters of Frederich Max Muller, Two vols.
2. ".........This edition of mine and the translation of the Veda will hereafter tell to a great extent on the fate of India,...... It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years." (Vol. I Ch. XV page 346)
3. "Would you say any one sacred book that is superior to all others in the world ?......I say, the New Testament, After that, I should place the Koran, which in its moral teachings, is hardly more than a later edition of the new Testament. Then would follow according to my opinion the old Testament, the Southern Buddhist Tripitaka, the Taote King of Laotze, the King of Confucius, The Veda and the Avesta.' (Vol. II Ch.XXXII Page 339)

(ग) १६ दिसम्बर सन् १८६८ (वि० संवत् १९२५) के दिन भारत सचिव, ड्यूक आफ आर्गाइल (Duke of Argyl) को वे एक पत्रमें लिखते हैं—

"भारतका प्राचीन धर्म नष्टप्राय है, और यदि ईसाई धर्म उसका स्थान नहीं लेता तो यह किसका दोष होगा[1] ?"

(घ) २९ जनवरी सन् १८८२ (वि० संवत् १९३९) के दिन उसने बैरामजी मालाबारी(Bairamji Malabari)को लिखा है—

"मैं यह बताना चाहता हूँ.........केवल पाश्चात्य वा ईसाई दृष्टिकोणसे नहीं, अपितु ऐतिहासिक दृष्टिसे देखा जाय कि प्राचीन (वैदिक) धर्मका वास्तविक ऐतिहासिक मूल्य क्या है। परन्तु जब तुम इस (वैदिक धर्म) में वाष्प यन्त्र, विद्युत और पाश्चात्य दर्शन तथा आचारकी खोज करते हो, तो तुम इसको इसके वास्तविक स्वरूपसे वंचित कर देते हो[2]।"

(ङ) मैक्समूलर महोदय तो इतने निर्भीक और ढीठ होने लगे थे कि उन्होंने भारतीयोंपर खूब रोब गांठना आरम्भ कर दिया था जो उनके द्वारा ब्रह्म समाजके श्री एन.के. मजूमदारको लिखे गये निम्न पत्रसे स्पष्ट है—

"तुमको और तुम्हारे देशवासियोंको स्पष्ट रूपसे क्राइस्टका अनुयायी बननेमें बाधक क्या प्रमुख कठिनाइयाँ हैं सो मुझे बतायी जायँ। मैंने तथा मेरे साथ सहमत अन्य अनेक लोगोंने किस प्रकार उन कठिनाइयोंको सुलझाया है उसको बताऊँगा और अपनी तरफसे

---

1. "The ancient religion of India is doomed and if Christianity does not step in, whose fault will it be?" (Vol. I, Ch. XVI, p. 378).

2. "I wanted to tell.........What the true historical value of this ancient religion is, as looked upon, not from an exclusively European or Christian, but from a historical point of view. But discover in it 'steam engines and electricity and European Philosophy and morality', and you deprive it of its true character." (Vol. II, Ch. XXV, p. 115-116).

उसको समझानेकी पूरी चेष्टा करूँगा। मेरे दृष्टिकोणसे भारतवर्षका एक बहुत बड़ा भाग ईसाई धर्ममें परिवर्तित हो चुका है। ईसामसीहके अनुयायी बननेके लिये तुमको कुछ समझानेकी आवश्यकता नहीं है। अपने लिये अपने मनका निश्चय करो। अपने समूहको एकत्रित रखने और विपथगामी होनेसे बचानेके लिये उनको मिलाये रक्खो। जो तुमसे पहले ही ईसाई बन चुके हैं उन्होंने तुम्हारे लिये रास्ता साफ कर दिया है। **दृढ़ताके साथ आगे बढ़ो, तुम्हारे पैरोंके नींचेसे जमीन नहीं खिसकेगी।** दूसरी ओर तुम्हारा स्वागत करनेके लिये तुमको अनेक मित्रगण मिलेंगे; उनमेंसे तुम्हारे प्राचीन मित्र और साथी कार्यकर्त्ता मैक्समूलरको सबसे बढ़कर आनन्द होगा[1]।

मैक्समूलर दावा करता है कि वह वैदिक धर्मका यथार्थ ऐतिहासिक मूल्य जानता है। किंतु हमारा इतिहास उसके एवं उसके अनुयायियोंके ज्ञान और विद्वत्ताके खोखलेपनको स्पष्ट प्रकट कर देगा।

५. वेबर (Weber) का पक्षपात—जिस समय इंग्लैंण्डमें मैक्समूलर भारतीय वाङ्मय और धर्मके गौरवको नष्ट करनेमें व्यस्त था, उस समय जर्मनी में अलबर्ट वेबर (Albert Weber) भी उसी प्रकारके निन्दनीय काममें दत्तचित्त था। हम पहले हम्बोल्ट (Humboldt) द्वारा की गयी

---

1. "Tell me some of your chief difficulties that prevent you and your countrymen from openly following Christ, and when I write to you I shall do my best to explain how I and many who agree with me have met them and solved them......From my point of view, India at least the best part of it, is already converted to christianity. You want no pursuation to become a follower of Christ. Then make up your mind to work for yourself. Unite your flock—to hold them together and to prevent them from straying. The bridge has been built for you by those who came before you. **Step boldly forward, it will not break under you,** and you will find many friends to welcome you on the other shore and among them none more delighted than your old friend and fellow labourer F. Max-Muller." (From Life and Letters of Frederich Max-Muller vol. II pages 415-416).

गीताकी उदार प्रशंसाका उल्लेख कर चुके हैं। वेबर इस प्रशंसाको सह नहीं सका। गीता और महाभारत ईसाई विचारोंसे प्रभावित है—ऐसा सिद्ध करनेका उसने दुःसाहस किया। उसने जो लिखा है, उसको देखिये—

> "सारे ग्रंथमें व्यापक कृष्णके मतका विचित्र चित्रण विचार करने योग्य है। ईसाई कथानक और दूसरे पाश्चात्य प्रभाव उसमें निस्संदेह विद्यमान हैं[1]।"

वेबरके विचारका लोरिन्सर (Lorinser) तथा ई. वाशबर्न हापकिंस (E. Washburn Hopkins) नामक दो अन्य पाश्चात्य विद्वानोंने भी दृढ़तापूर्वक समर्थन किया था। इन विचारोंका मिथ्यात्व इतना स्पष्ट था कि योरोपीय विश्वविद्यालयोंके अधिकतर प्रोफेसरोंने ईसाइयतकी ओर झुकाव रहते हुए भी इन विचारोंको स्वीकार नहीं किया। किन्तु इन मिथ्या विचारोंके प्रचारने अपना अनिष्टकारी प्रभाव तो डाला ही, साथ ही वह प्रतिपक्षियों सहित पाश्चात्य विद्वान् जो महाभारतके कालको ईसासे पूर्व माननेमें हिचकिचाते हैं—उसके लिये भी जिम्मेवार हैं।

वेबर और बंकिमचन्द्र—मेरे अकेलेके ही ये विचार नहीं हैं। बंगालके प्रसिद्ध विद्वान् लेखक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्यायने वेबरके बारेमें अपने कृष्ण-चरितमें लिखा है—

> "प्रसिद्ध वेबर (Weber) साहब पण्डित तो हैं, लेकिन मेरे विचारसे जिस क्षण उन्होंने संस्कृत सीखनी आरम्भ की थी, भारतवर्षके लिये वे बहुत अशुभ क्षण थे। भारतवर्षका प्राचीन गौरव उस कालके जर्मनीके अरण्यनिवासी बर्बरोंके वंशधरोंके लिये असह्य था। अतएव, प्राचीन भारतवर्षकी सभ्यता अति आधुनिक कालकी है—इसको प्रमाणित करनेके लिये वे सदा यत्नशील बने रहे। उनके विचारोंमें

1' "The Peculiar colouring of the Krishna Sect, which pervades the whole book, is noteworthy; Christian legendary matter and other Western influences are unmistakably present......" ('The History of Sanskrit Literature', Popular ed. 1914, p. 189, footnote : cf. also p. 300, foot-note.)

यिशु ख्रिष्टके जन्मके पूर्व महाभारत था, इस बातका विचार करने का कोई मुख्य प्रमाण नहीं है[1]।"

वेबर और गोल्डष्टकर (Goldstucker)—वेबर और बोह्तलिङ्क (Boehtlingk) ने एक संस्कृत कोश बनाया जिसका नाम है 'संस्कृत वार्टरबुश' (Sanskrit Worterbuch)। प्रो० कुह्न (Prof. Kuhn) भी इस कार्यमें उनका सहायक था। भाषा-विज्ञानके मिथ्या एवं काल्पनिक आधारके कारण वह कृति अशुद्ध अर्थोंसे भरी पड़ी है, अतः वह अविश्वसनीय एवं भ्रमोत्पादक है। बड़े दुःखकी बात है कि उनके पूर्वाग्रहने ही इतनी बड़े परिश्रमको व्यर्थ कर दिया। अध्यापक गोल्डष्टकरने उस कोशकी तीव्र आलोचना की, जिससे उसके दो सम्पादक बहुत नाराज हो गये। वेबर तो मानसिक संतुलनको इतना खो बैठा कि वह गोल्डष्टकरके विरुद्ध बहुत गंदी और भद्दी भाषाका[2] प्रयोग करने तकके निम्न स्तरपर उतर आया। उसने 'वार्टरबुश' के सम्बन्धमें गोल्डष्टकरके विचारोंका उल्लेख करते हुए लिखा कि 'गोल्डष्टकरका मस्तिष्क पूर्ण रूपसे विकृत[3]' हो गया है क्योंकि उसने बड़े-बड़े हिन्दू विद्वानोंकी प्रामाणिकताका स्वच्छन्दता एवं सरलतापूर्वक विरोध नहीं किया। गोल्डष्टकरने इन लोगोंके अशोभनीय प्रहारोंका उत्तर देते हुये राथ, बोह्तलिङ्क, वेबर, कुह्न आदि लेखकों द्वारा प्राचीन भारतकी

---

1. "विख्यात weber साहेब पण्डित बटे, किन्तु आमार विवेचनाय तिनि जे क्षणे संस्कृत शिखिते आरम्भ करियाछिलेन, भारतवर्षेर पक्षे से अति अशुभ क्षण। भारतवर्षेर प्राचीन गौरव सेदिनकार जर्म्मनिर अरण्यनिवासी बर्ब्बरदिगेर वंशधरेर पक्षे असह्य। अतएव, प्राचीन भारतवर्षेर सभ्यता अति आधुनिक, इहा प्रमाण करिते तिनि सर्व्वदा यत्नशील। तांहार विवेचनाय यिशु ख्रिष्टेर जन्मेर पूर्व्व जे महाभारत छिल, एमन विवेचना करिवार मुख्य प्रमाण किछु नाइ।" (बंकिमचन्द्र द्वारा लिखित बङ्गभाषाका "कृष्ण चरित" चतुर्थ परिच्छेद)।

2. **"Panini His Place in Sanskrit Literature", Allahabad Edition, p. 200, 1914.**

3. **"a perfect dearrangement of his mental faculties". (Panini His Place in Santkrit Literrture", Allahabad Edition, p. 200, 1914.)**

महत्ता नष्ट करनेके लिये रचे गये षड्यंत्रका भण्डाफोड़ किया। उन्होंने लिखा—

"जितनी जल्दी हो सके, यह बता देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि डा० बोह्तलिङ्क पारिणनीके सरल नियमोंको भी समझनेमें असमर्थ हैं तथा कात्यायनको तो और भी कम समझते हैं, उच्च कोटिके साहित्यको हृदयंगम करनेके लिये उनका कैसे प्रयोग करना चाहिये– इस बातको समझनेके लिये तो उनकी सामर्थ्य और भी कम है। उनके कोश-निर्माण कार्यमें इतनी अधिक भूलें हैं कि संस्कृत भाषा-विज्ञानके अध्ययनमें उसके प्रयोगका जो अनिष्टकारी प्रभाव होगा उसके विचार मात्रसे प्रत्येक विचारवान् संस्कृतज्ञका हृदय व्याकुलतासे भर उठता है[1]।"

उन्होंने आगे और भी बताया—

"जिन प्रश्नोंका निर्णय अत्यन्त सावधानीके साथ करना चाहिये तथा जिनका निर्णय अति परिश्रम-साध्य अन्वेषणसे ही हो सकता है उन प्रश्नोंके साथ वार्टरबुशके कोशमें बहुत अनधिकारपूर्ण ढंगसे खिलवाड़-सा किया गया है[2]।"

बोह्तलिङ्कके एक साथी गोल्डष्टकरसे मिले। वे न केवल इसलिए मिले कि गोल्डष्टकर 'पारिणनीके सम्पादक बोह्तलिङ्क' का सम्मान करें, बल्कि

1. "It will, of course, be my duty to show, at the earliest opportunity, that Dr. Boehtlingk is incapable of understanding even easy rules of Panini, much less those of Katyayana and still less is he capable of making use of them in the understanding of classical texts. The errors in his department of the dictionary are so numerous.........that it will fill every serious Sanskritist with dismay, when he calculates the mischievous influence which they must exercise on the study of Sanskrit Philology". (Panini His Place in Sanskrit Literature, Allahabad Edition, p. 195, 1914.)

2. "that questions which ought to have been decided with the very utmost circumspection and which could not be decided without very laborious research have been trifled with in the Worterbutch in the most unwarranted manner." (Ibid. p. 197.)

इस गुप्त अभिप्रायसे भी मिले कि बोह्तलिङ्ककी प्रत्येक भूलको वे जनताके सामने प्रामाणिक सिद्ध करें[1]।

हम जानते हैं कि ईसाइयों और यहूदियोंके पक्षपातके अतिरिक्त और कोई अन्य गुप्त कारण ऐसे नहीं थे जिन्होंने इन्हें भारतीय व्याकरणाचार्योंकी वास्तविक जानकारीको छिपाने तथा आर्य सभ्यता और संस्कृतिको निम्नकोटिकी सिद्ध करके बदनाम करनेके लिये प्रवृत्त किया। इसके साथ ही इसी लक्ष्यकी सिद्धिके लिये ब्रिटिश सरकारके हाथका खिलौना बनना भी उसका हेतु था।

वार्टरबुश कोशपर सम्मति देनेवाले प्रोफेसर कुह्न एक ऐसे व्यक्ति थे जिनका संस्कृतके अध्ययनसे इतना मात्र ही सम्बन्ध था कि वे संस्कृत पढ़ सकने वालोंको संस्कृतकी पुस्तकें दिया करते थे। वे साहित्य-ज्ञानमें शून्य तथा पूर्ण रूपसे अज्ञानी रहनेपर भी अपनेको इतनी पुस्तकोंके ज्ञाताकी तरह दर्शाया करते थे क्योंकि इनके पास आंकड़े तो थे ही जिनकी संख्यासे इनका व्यक्तित्व-सा दृष्टिगोचर होता था, लेकिन इनके अपने मित्रोंकी सम्मतिके अनुसार भी ये संस्कृत-ज्ञानसे पूर्णतः अनभिज्ञ थे[2]।

यथार्थ भारतीय-परमपराकी अनधिकार खिल्ली उड़ानेकी चेष्टासे उत्तेजित होकर प्रोफेसर गोल्डष्टकरको वैज्ञानिक विद्वानोंका चोगा पहने हुए छद्म-वेशधारी दुष्ट प्रचारक समूहके विरुद्ध अपना क्षीण परन्तु एकाकी स्वर उठानेके लिये बाध्य होना पड़ा। निम्नलिखित अर्थपूर्ण टिप्पणीके साथ अपने परिश्रमसाध्य कार्यका उपसंहार करते हुए वे लिखते हैं—

> "जब मैं देखता हूँ कि अत्यन्त मूल्यवान और कदाचित् प्राचीन भारतके हमारे समस्त ज्ञानके एकमात्र स्रोत इन महान ख्यातिप्राप्त एवं विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न हिन्दू विद्वानों और धर्मोपदेशकोंके मतका तिरस्कार किया जाता है, अपने प्रकाशनोंमें तोड़-मरोड़कर उनका रूप विकृत कर दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप वैदिक साहित्यकी व्याख्यामें उनको उठाकर अलग रख दिया जाता है; प्राचीन हिन्दू जातिके आरम्भ कालमें वेदोंका प्रचलित भावार्थ

1. "Panini His Place in Sanskrit Literature" Allahabad edition, p. 203.
2. Ibid. p. 203.

बतानेकी डींग इन संस्कृतज्ञोंके गुट द्वारा हाँकी जाती है ; जब मैं विचार करता हूँ कि संस्कृत-भाषा-विज्ञानके अध्ययनकी यह पद्धति उन लोगों द्वारा अपनायी जा रही है जिनके वचनोंका गुरुत्व और प्रभाव प्रत्यक्षत: उनके इस व्यवसायमें उच्च पदपर आसीन होनेके कारण ही है तब मैं समझता हूँ कि संस्कृत भाषा-विज्ञानके असंयत आमोद-प्रमोदमें रत इन लोगोंका यदि विरोध न किया गया तो यह साहसके अभाव तथा कर्त्तव्यकी अवहेलनाका द्योतक होगा[1] ।"

६. **मोनियर विलियम्स** (**Monier Williams**), जिन्होंने बोडन प्राध्यापक पद (Boden Chair) की स्थापनाके वास्तविक उद्देश्यका रहस्य उद्घाटित किया, इस प्रकार कहते हैं—

"अत: ब्राह्मणधर्मका नाश सुनिश्चित है । वास्तविक बात यह है कि बहुत साधारण वैज्ञानिक विषयोंसे सम्बन्धित झूठे विचार ब्राह्मण-धर्मके सिद्धान्तसे इतने घुल-मिल गये हैं कि इसाई मतकी सहायताके बिना साधारणसे साधारण शिक्षा—यथा भूगोल विद्याके साधारणसे

---

1. "When I see that the most distinguished and the most learned Hindu scholars and divines the most valuable and sometimes the only source of all our knowledge of ancient India—are scorned in theory, mutilated in print, and, as consequence set aside in the interpretation of Vaidik texts;... when a clique of Sanskritists of this description vapours about giving us the sense of Veda as it existed at the commencement of Hindu antiquity;—when I consider that this method of studying Sanskrit philology is pursued by those whose words apparently derive weight and influence from the professional position they hold;...then I hold that it would be a want of courage and a dereliction of duty, if I did not make stand against these Saturnolia of Sanskrit Philology." (Panini His Place in Sanskrit Literature", Allahabad edition, p. 204-205.)

साधारण पाठ भी निश्चय ही इस ब्राह्मणधर्मकी जड़ उखाड़ फेंकेंगे[1] ।"

"ब्राह्मणधर्मके शक्तिशाली दुर्गकी दीवारें जव घेर ली जायँगी, उनके नीचे जब सुरंग लगा दी जायगी और अन्तमें क्रास (ईसाई धर्म) के सिपाही उनपर धावा बोल देंगे तब ईसाई धर्मकी यह निश्चित ही अपूर्व तथा पूर्ण विजय होगी[2] ।"

इसलिये हमारा यह निष्कर्ष उचित ही है कि मोनियर विलियम्सकी "भारतमें मिशनरी कार्यके सम्बन्धमें संस्कृतका अध्ययन" ("The Study of Sanskrit in Relation to Missionary work in India—1861 A.D. London) नामक पुस्तक हिन्दू धर्मको निकाल बाहर करने तथा ईसाई धर्मके विस्तारके एकमात्र उद्देश्यसे ही लिखी गयी थी। इसपर भी हमारे कुछ भारतीय संस्कृत विद्वान् इन योरोपियन विद्वानोंको संस्कृत-साहित्यके पक्षपातरहित विद्यार्थियोंके रूपमें मानते हैं तथा जिनका एकमात्र उद्देश्य ज्ञानके लिये ज्ञान प्राप्त करना रहा है।

बाइबलके प्रति अपनी आत्यंतिक श्रद्धा-भावनाको व्यक्त करते हुए मोनियर-विलियम्स लिखते हैं—"बाइबल ही ईश्वर द्वारा प्रकटित वास्तविक प्रकाश है[3] ।"

---

1. "Brahmanism, therefore, must die out. In point of fact, false ideas on the most ordinary scientific subjects are so mixed up with its doctrines that the commonest education—the simplest lessons in geography—with the aid of christianity must inevitably in the end sap its foundations." (Modern India and the Indians, by M. Williams, Third edition 1879, p. 261).

2. "When the walls of the mighty fortress of Brahmanism are encircled, undermined, and finally stormed by the soldiers of the cross, the victory of Christianity must be signal and complete." (Ibid. p. 262.)

3. "The Bible, though a true revelation." (Indian Wisdom p. 143.)

७. **रुडल्फ हार्न्ले (Rudolf Hoernle) :** वाराणसीके क्वीन्स कालेजमें संवत् १९२६ में रुडल्फ हार्न्ले प्रिंसिपल थे। उन्हीं दिनों आर्यसमाजके प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वतीका अपने स्वीकृत ध्येयके प्रचार-कार्यके लिये काशीमें सर्वप्रथम आगमन हुआ था। डा० रुडल्फ हार्न्ले कई बार उनसे मिले। उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वतीपर एक लेख लिखा[1] जिसकी निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं क्योंकि इनसे भारतवर्षके प्राचीन शास्त्रों और संस्कृत भाषाके अध्ययनमें संलग्न योरोपियन विद्वानोंका वास्तविक हेतु प्रकट हो जाता है। डा० हार्न्ले लिखते हैं—

> "...वे (दयानन्द) संभवतः हिन्दुओंको यह प्रतीति करवा सकते हैं कि उनका आधुनिक हिन्दू धर्म वेदोंके सर्वथा विरुद्ध है।...यदि एक बार उन्हें इस मौलिक भूलका पूर्ण विश्वास हो जाये, तो वे निःसंदेह तत्काल हिन्दू धर्मका परित्याग कर देंगे।...वे वैदिक अवस्थाकी ओर नहीं लौट सकते, वह मृत है और नष्टप्राय हो चुकी है, और कदापि पुनर्जीवित न होगी। कुछ न कुछ अधिक या कम नवीन वस्तु इसका स्थान अवश्य लेगी। हम आशा करते हैं कि यह ईसाई मत ही हो सकता है[2]।"

८. **रिचर्ड गार्बे (Richard Garbe)**—जर्मन संस्कृतज्ञ थे जिन्होंने कई संस्कृत ग्रन्थोंका सम्पादन किया। इनके अतिरिक्त इन्होंने सन् १९१४ में मिशनरियों (ईसाई धर्म-प्रचारकों) के लिये "Indien und das Christen tum" नामक (जर्मन भाषाकी) पुस्तक लिखी। इस पुस्तकसे इनका धार्मिक पक्षपात अच्छी तरहसे स्पष्ट है।

---

1. The Christian Intelligencer, Calcutta, March 1870, p. 79.
2. "...he (Dayananda) may possibly convince the Hindus that their modern Hinduism is altogether in opposition to the Vedas... If once they became thoroughly convinced of this radical error, they will no doubt abandon Hinduism at once... They cannot go back to the Vedic state; that is dead and gone, and will never revive : something more or less new must follow. We hope it may be Christianity..." (A.F.R.H. quoted in "The Arya Samaj" by Lajpat Rai, 1932, p. 42.)

९. **विण्टरनित्स (Winternitz)**—अपने ही दर्शनशास्त्र और धर्मकी श्रेष्ठताका अभिमान तथा अपने निष्कर्षोंके भ्रान्तिहीन होनेकी मान्यता उपर्युक्त प्रकारके पाश्चात्य संस्कृतज्ञोंमें इतनी गहरी जड़ जमा चुकी है कि वे निर्लज्जतापूर्वक इसको सर्वसाधारणके सम्मुख प्रकट करनेमें भी कोई संकोच अनुभव नहीं करते। शोपेनहाएर (Schopenhauer) द्वारा उपनिषदोंके दर्शनकी सम्मानपूर्ण प्रशंसा, जिसको भारतीय लेखकोंने अक्सर उद्धृत किया है, योरोपियनोंके हृदयको निरन्तर कष्ट देती रही। आगे चलकर सन् १९२५ में प्रोफेसर विण्टरनित्सने शोपेनहाएरके सच्चे और हार्दिक विचारोंका निम्न शब्दोंमें खण्डन करना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझा—

> "तो भी मेरा विश्वास है कि शोपेनहाएरका यह कथन एक उन्मत्त अतिशयोक्ति मात्र है कि 'उपनिषद्की शिक्षा' सर्वोच्च मानव-ज्ञान और प्रज्ञाका फल है तथा 'उसमें प्रायः मानवेतर विचार हैं जिनके उद्गाता साधारण मर्त्य मानव नहीं हो सकते[1]'।"

उपनिषदोंके विरुद्ध विषवमनसे ही सन्तोष न करके उन्होंने वेदोंकी महानता तकका तिरस्कार यह कहकर करनेकी भी धृष्टता की कि—

> "यह ठीक है कि इन मन्त्रोंके रचयिता ऊपर चढ़ते हैं, किन्तु हिब्रच् लोगोंके धार्मिक काव्य अगाध उत्साह तथा ऊँची उड़ान तक उनमेंसे क्वचित् ही कोई पहुँच पाते हैं[2]।"

बदनाम करनेकी यह क्रिया केवल संस्कृत विद्वानों तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि उनके माध्यमसे विज्ञानके क्षेत्रमें भी प्रवेश कर गयी। हिंदुओंकी

1. "Yet I believe, it is a wild exaggeration when Schopenhauer says that the teaching of the Upanishads represents 'the fruit of the highest human knowledge and wisdom' and contains 'almost superhuman conceptions the originators of which can hardly be regarded as mere mortals'..." (Some Problems of Indian Literature, Calcutta, p. 61, 1925.)

2. "It is true, the authors of these hymns rise but extremely seldom to the exalted flights and the deep fervour of, say, the religious poetry of the Hebrews." (History of Indian Literature, p. 79, 1927.)

यथार्थ तथा अनेक प्रकारकी विज्ञान-विद्याका एक शब्द भी न जानने वाले सर विलियम सेसिल डैम्पियर (Sir William Cecil Dampier) लिखते हैं—

"दर्शन और औषधि-विज्ञानके अतिरिक्त अन्य प्रकारके विज्ञानोंमें भारतके योगदानकी कमी कुछ अंशमें हिन्दू धर्मके कारण ही शायद रही हो[1]।"

प्रचलित साहित्यमें भी निम्नलिखित शरारतपूर्ण तथा उत्तेजक वाक्योंमें हिन्दूधर्मके विरुद्ध घृणाकी यह पराकाष्ठा स्पष्ट दीखती है—

(क) "हिन्दू धर्म भारतके लिये अभिशाप है। बीस करोड़ व्यक्ति नर और वानर (monkey mixture) की पौराणिक गाथा (रामायण) में विश्वास करते हैं जो राष्ट्रका गला घोट रही है।"

"भारतमें जो कोई भी ईश्वरके लिये उत्कण्ठा रखता है, शीघ्र ही उसका मस्तिष्क विकृत हो जाता है और उसके साथ ही हृदय भी टूट जाता है[2]।"

(ख) बम्बईके प्रो० मैकेंजी (Prof. Mckenzie) समझते हैं कि भारतका नीतिशास्त्र दोषपूर्ण, तर्कहीन तथा समाज-विरोधी है; उसमें भी दार्शनिक आधारकी कमी है; संन्यास तथा शास्त्रोक्त विधि-विधानोंके घृणित विचारों द्वारा इसे निरर्थक बना दिया गया है; तथा योरोपके उच्च श्रेणीके

---

1. "Perhaps the paucity of Indian contribution to other sciences (than Philosophy and Medicine) may in part be due to the Hindu religion." (A History of Science, 4th edition, p. 8, Cambridge University Press, 1948.)

2. "The curse of India is the Hindoo religion. More than two hundred million people believe a monkey mixture of mythology that is strangling the nation."

"He who yearns for God in India soon loses his head as well as his heart." (Ripley's 'Believe it or Not', Part I, p. 14, 26th edition, pocket-books Inc., New York.)

अध्यात्मवादकी तुलनामें बिल्कुल निम्नकोटिका है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दू नीति-शास्त्र' (Hindu Ethics) के अधिकतर अंशका उपयोग इसी सिद्धान्तके समर्थन करनेमें किया है तथा एक विजेताके रूपमें यह निष्कर्ष निकाला है कि हिन्दू दार्शनिक विचार जब तर्ककी कसौटीपर कसे जाते हैं तब उनमें नीति-शास्त्रके लिये कोई स्थान नहीं रहता; तथा उनके कारण 'उद्यमपूर्ण नैतिक जीवनके विकासमें' बाधा पहुँचती है[1]।

रिपले (Ripley's) कृत साहित्य जैसा घृणित साहित्य प्रकाशित होने देना उस शासनकी बड़ी भारी गलती है जो भारतकी मित्रता तथा सहानुभूति चाहता हो। इस प्रकारकी पुस्तकें चाहे भारतमें प्रकाशित हों अथवा विदेशमें, उनकी ओर हमारे राजनैतिक नेताओंका ध्यान न जाना तथा राष्ट्रीय शासन द्वारा उनपर प्रतिवन्ध न लगाना—भारी खेदका विषय है। इस प्रकारके निन्दनीय साहित्यके निषेधमें हमारी सरकार केवल उदासीन ही नहीं है, अपितु हमारे विश्वविद्यालय उन विदेशी विद्वानोंके भारतीय इतिहास तथा संस्कृतिके साहित्यको न केवल पाठ्यक्रममें रखते हैं अपितु उच्च शिक्षाके लिये उनके अध्ययन करनेकी सिफारिश भी करते हैं जिन्होंने खुले आम हमारी सभ्यताको बड़ी चतुराईके साथ कलंकित करनेमें कोई कोर-कसर नहीं रक्खी।

जिस देशके ब्राह्मण ग्रन्थोंसे सारे विश्वने नैतिकता और आचारके नियम[2] सीखे हैं, उस देशके नीतिशास्त्रोंपर मैकेन्जीके समान टीका-टिप्पणी—ईश्वरकी निन्दा तथा राष्ट्रीय अपमानसे जरा भी कम नहीं है। बड़े दुर्भाग्यकी बात है कि ऐसे व्यक्तियोंकी निन्दा होनेके स्थानपर वे हमारे देशके शिक्षा-शास्त्रियों तथा राजनैतिक नेताओं द्वारा मान्यता और सम्मान प्राप्त करते हैं।

इस पक्षपातसे अपरिचित अधिकांश भारतीय विद्वान तथा राजनैतिक नेता—हमने पाश्चात्य विद्वानोंकी इस प्रकारकी मनोवृत्तिका पर्याप्त दिग्दर्शन करा दिया है। उन लोगोंको अपनी सरकारोंसे तथा भारतमें

---

1. Vide 'Ethics of India' by E. W. Hopkins, preface, pp. x and xi, New Haven, 1924.
2. Manu, II.20.

ब्रिटिश सरकारसे विपुल धन-राशिकी आर्थिक सहायता मिली, जिसका उपयोग लेख लिखनेमें, पत्रिकाओं तथा पुस्तकोंके प्रकाशनमें खूब किया गया, जिनके द्वारा बड़ी सूक्ष्म गहराईसे तथा कपटवेशमें अपने प्रतिक्रियावादी विचारोंका प्रचार किया गया। उन लोगोंका बड़ी सावधानीके साथ यह प्रयत्न रहा कि उनकी पोल न खुलने पावे और वे अपनी विद्वत्ता तथा निष्पक्षताका चोगा ओढ़े रहकर दुनियां एवं भारतके लोगोंको बहकाते रहें। यदि स्वामी दयानन्द सरस्वतीने उनके नीच मन्तव्योंका निर्भयतासे भण्डाफोड़ करके उनके मधुर स्वप्न-लोकको भंग न कर दिया होता तो वे लोग अपने काममें भली भांति सफल हो जाते। स्वामी दयानन्द सरस्वती अद्वितीय व्यक्तित्व, अदम्य साहस, तीक्ष्ण बुद्धिमत्ता, दूरदृष्टि तथा दूरगामी कल्पना-शक्तिसे सम्पन्न महापुरुष थे। जार्ज बूह्लर (George Buhler), मोनियर विलियम्स[1], रुडल्फ हार्न्ले और थीबो (Thibaut) आदि योरोपीय विद्वानोंसे उनका साक्षात्कार हुआ था; इन लोगोंने संस्कृत अनुसन्धानके क्षेत्रमें ईसाई उमंगके साथ काम किया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ही प्रथम व्यक्ति थे जिनकी पैनी दृष्टि उन लोगोंके शोधकार्यकी ओटमें निहित प्रच्छन्न प्रयोजनको पहचाननेमें नहीं चूकी, यद्यपि भारतकी साधारण जनता और सरकारी आजीविकापर निर्भर विद्वान् लोग उन

---

1. Moniar Williams himself writes of his meeting :—"Dayanand Sarsvati,......I made his acquaintance at Bombay in 1876, and was much struck by his fine countenance and figure. There I heard him preach an eloquent discourse on the religious development of the Aryan race. He began by repeating a hymn to Varuna (IV. 16) preceded by the syllable Om,—prolating the vowel in deep sonorous tones." Brahmanism and Hinduism, M. Williams, 4th ed., 1891, p. 529.

"In one of my interviews with him, I asked for his definition of religion, he replied in sanskrit :—'Religion (धर्मः) is a true and just view (न्यायः) and the abandonment of all prejudice and partiality (पक्षपातराहित्यम्)—that is to say, it is an impartial inquiry into the truth by means of the senses and the two other instruments of knowledge—(प्रमाण) reason and revelation." Ibid. p. 530.

विदेशियोंकी तथाकथित गहन विद्वत्ता, दृढ़ निष्पक्षता, वैज्ञानिक तथा उदार दृष्टिसे मोहित-से हो रहे थे। स्वामी दयानन्दने अपने देशवासियोंको समयसे चेताकर इन बनावटी विद्वानों एवं चुपके-चुपके काम करनेवाले धर्म-प्रचारकोंके चंगुलमें फंसनेसे बचा लिया।

हमने पाश्चात्य विद्वानोंकी कई पीढ़ियों द्वारा रचित लगभग सारे साहित्यका अध्ययन किया है तथा खुले मनसे उनका अच्छी प्रकार परीक्षण किया है। हम इस निर्णयपर पहुँचे हैं कि अधिकतर इन विद्वानोंके लेखोंमें ईसाई पक्षपातकी छटा निश्चित रूपसे है जो भारतवर्षकी सारी महानताको कलंकित करनेके लिये उत्तरदायी है। इन लेखकोंका अन्तिम ध्येय, इस देशके लोगोंके मस्तिष्कमें उनके अपने धर्म तथा संस्कृतिकी हीनताको चतुराईके साथ भरकर उनके धर्म-परिवर्तन द्वारा उन्हें ईसाई बनाना प्रतीत होता है।

किंतु सच्चाई सर्वदाके लिये छिपी नहीं रह सकती। अब भारतवर्षके कुछ आधुनिक विद्वान् भी यद्यपि पूरी तरहसे नहीं तो भी कुछ-कुछ इन योरोपियन विद्वानोंकी ऊपरी महीन परतको भेदकर इनको समझने लग गये हैं। उदाहरणार्थ—

१. प्रोफेसर वी. रंगाचार्य (Prof. V. Rangacharya) लिखते हैं—

"प्रायः सभी अंग्रेज तथा अमरीकी विद्वानों द्वारा स्वच्छन्दतासे बनायी गयी इस धारणाने कल्पनातीत शरारत की है कि मिश्र या मेसोपोटामियाके प्रारम्भिक कालकी तिथि कमसे कम ईसासे ५००० वर्ष पूर्वकी है और प्राचीन भारतकी अन्तिम सम्भावित तिथि भारतका उन देशोंका अनुकरण करनेके आधारपर बहुत पीछेकी है[1]"

---

1. "Incalculable mischief has been done by almost all the English and American scholars in assuming arbitrarily the earliest dates for Eqypt or Mesopotamia—dates going back to B C. 5000 atleast—and the latest possible dates for Ancient Indian on the ground that India borrowed from them." ('History of Pre-Musalman India,' Vol. II, Vedic India, Part I, 1937 A.D., p. 145.)

२. मद्रास विश्वविद्यालयके इतिहास विभागके प्रमुख श्रीनीलकण्ठ शास्त्री यद्यपि अनेक न टिक सकनेवाले पाश्चात्य सिद्धान्तोंके समर्थक हैं, तथापि उनको लिखना पड़ा—

"भारतीय समाज और भारतीय इतिहासके विषयमें उन्नीसवीं सदीके योरोपके पूर्वस्वीकृत विचारोंपर आधारित आलोचनाके अतिरिक्त यह क्या है ? यह आलोचना अंग्रेज शासकों और योरोपीय ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा आरम्भ की गई थी और लासेन (Lassen) की विशाल विद्वत्ता द्वारा प्रवीणतासे अंकित है । उन्नीसवीं सदीके आरम्भमें जर्मनकी अपूरित आकांक्षाओंका लासेनकी विचारधाराके बनानेमें निस्संदेह भाग था[1] ।"

३. भारत सरकारके भूतपूर्व शिलालेख विशेषज्ञ श्री सी. आर. कृष्णमाचारलुने योरोपियन लेखकोंके प्रच्छन्न प्रयोजनोंको समझ लेनेपर अपने विचार बड़ी दृढ़ताके साथ प्रकट किये हैं । वे लिखते हैं—

"सद्योद्भूत जातियोंमें जन्मे हुए ये पाश्चात्य ग्रन्थकार सांस्कृतिक उद्देश्यके स्थानपर दूसरे निहित उद्देश्यविशेषसे जो इतिहास लिखते हैं वह कई बातोंमें स्पष्ट ही जातीय पक्षपातयुक्त है तथा पुरातन भारतीय इतिहासके यथार्थ विषयीकरणका हित-विरोधी है । ऐसे लेखक सांस्कृतिक सहानुभूतिकी इतिहास-प्रसिद्ध सत्यताका प्रमाण प्राप्त नहीं कर सकते[2] ।"

---

1. What is this but a critique of Indian society and Indian history in the light of the nineteenth century prepossessions of Europe? This criticism was started by English administration and European missionaries and has been neatly focussed by the vast erudition of Lassen; the unfulfilled aspirations of Germany in the early nineteenth century, doubtless had their share in shaping the line of Lassen's thought." (All India Oriental Conference, December 1941, Part II, p. 64, printed in 1946.)

2. "These authors, coming as they do from nations of recent growth, and writing this history with motives other than cultural, which in some cases are apparently racial and prejudicial to the correct elucidation of the past history of India, cannot acquire testimony for historic veracity of cultural sympathy." ("The Cradle of Indian History," p. 3, Adyar Library, Madras, 1947.)

४. प्रो० आर. सुब्बाराव (Prof. R. Subba Rao) एम. ए., एल. टी. भारतीय इतिहास कांग्रेसके वाल्टेयरके सोहलवें अधिवेशनमें (२९ दिसम्बर १९५३) अपने (विभागीय) अध्यक्ष पदके भाषणमें लिखते हैं—

"दुर्भाग्यसे पुराणोंकी ऐतिहासिकता तथा उनके प्रमाण कुछ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ऐसे दूषित कर दिये गये हैं जिन्होंने कट्टरतापूर्वक यह प्रतिपादित किया कि ऐतिहासिक काल ईसासे २००० वर्ष पूर्वके पहले नहीं जा सकता तथा महाभारत-युद्धका काल ईसाके १४०० वर्ष पूर्वसे पहलेका निश्चित करनेकी आवश्यकता नहीं है। अपनी प्राचीनताको और अधिक प्राचीन बतानेके लिये उन लोगोंने ब्राह्मणोंको दोषी ठहराया और हिन्दुओंकी (खगोल विद्या सम्बन्धी ग्रन्थों) ज्योतिष-गणनाकी प्रामाणिकताको भी विवादास्पद बना दिया[1]।"

उपसंहार

संक्षेपमें पूर्व पृष्ठोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यही वह ईसाई और यहूदी पक्षपात था जिसने—

(क) प्राचीन भारतीय इतिहासका वास्तविक काल पाश्चात्य विद्वानों द्वारा स्वीकार नहीं होने दिया, जो वेदोंको 'ओल्ड टैस्टामेण्ट' के प्राचीनतम कालसे अधिक प्राचीनता देनेमें तथा उनको ईसासे २५०० वर्ष पूर्वके पहलेका माननेमें बराबर अनिच्छुक रहे[2]।

---

1. "Unfortunately, the historicity of Puranas and their testimony has been perverted by certain Western scholars who stated rather dogmatically that the historical age cannot go back beyond 2000 B.C., and that there is no need for fixing the Mahabharata war earlier than 1400 B.C. They accused the Brahmins of having raised their antiquity and questioned the authenticity of the Hindu astronomical works." J.A.H.R.S., Vol. X, p. 187.)

2. Cf. A.L. Basham :—

"Few European scholars would agree with professor Altekar (p. 19) that the Rigveda dates from 2500 B.C." (J.R.A.S., 1950 A.D., parts 3-4, p. 202.)

पाल ड्यूसन (Paul Deussen), ए. डब्ल्यू. राइडर (A.W. Ryder) एवं एच. ज़िमर (H. Zimmer) की विचारधाराओं वाले (विद्वान) भी, जो प्राचीन भारतीय मेधाकी प्रशंसा करनेमें शोपेनहाएर (Schopenhauer) के अनुयायी रहे, इस मिथ्या काल निर्णयकी अत्यन्त अवैज्ञानिक बातको अमान्य नहीं कर सके।

(ख) पाश्चात्य भारतविदोंके लिये परस्पर सम्बन्धी दो रोग उत्पन्न किये। एक रोग तो—पौराणिक कथा काल्पनिक और गप्प है, जिसके अनुसार ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, पर्वत, नारद, कश्यप, पुरूरवा, वशिष्ठ तथा प्राचीन अन्य ऋषियोंका समूह काल्पनिक घोषित कर दिया गया; किसीने भी इस डरसे कि भारतीय इतिहास बहुत प्राचीन सिद्ध हो जायगा, उनकी ऐतिहासिकताकी वास्तविकता समझनेकी कभी चेष्टा नहीं की। उसीके परिणामस्वरूप दूसरा रोग है—आरोपणाका, जिसमें इन ऋषियोंकी तथा अन्य ऋषियोंकी कृतियोंको बहुत पीछेके गुमनाम व्यक्तियों द्वारा निर्मित घोषित किया गया जिन व्यक्तियोंने उन कृतियोंको उन काल्पनिक ऋषियोंके नामपर आरोपित कर दिया।

धर्मशास्त्रोंमें 'अहिंसा' धर्मकी विशेषता

हिन्दू आर्योंके धर्मग्रंथोंमें एवं अन्य धर्मोंमें भी 'अहिंसा' धर्मको बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है जो निम्नलिखित उद्धरणोंसे स्पष्ट है—

१. **मा हिंस्यात् सर्व भूतानि**—किसी भी प्राणीकी हिंसा न करो।

२. **तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः**—सर्वथा (सम्पूर्ण रूपसे), सर्वदा (सब कालमें), किसी भी भूत (प्राणी) से द्रोह न करना अहिंसा है। (पा० योगदर्शन २.३०)

३. **मनुस्मृति—**

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते (६.६०)—प्राणियोंकी हिंसा न करनेसे (मनुष्य) मोक्षके योग्य होता है।

अहिंसया तत्पदम् (६.७५)—अहिंसासे (मनुष्य) परम पदको प्राप्त होता है।

मनुस्मृतिमें सर्वमानवधर्ममें भी अहिसाकी प्राथमिकता है—
अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥ (१०.६३)

४. **धर्माणां च यथाहिंसाभयदानं वरेण्यकम्**—जैसे सब धर्मोंमें अहिंसा धर्म सर्व-श्रेष्ठ है, वैसे ही दानोंमें अभय-दान है।

(आदि पुराण १.१९)

५. **प्रविशन्ति यथा नद्यः 'समुद्रमृजुवक्रगाः।**
सर्वेऽधर्माश्च हिंसायां प्रविशन्ति तथा दृढम् ॥

(पद्म० उत्तराखण्ड २४३.६)

जैसे वक्रगति वाली नदियाँ समुद्रमें प्रवेश करती हैं, वैसे ही सब अधर्म हिंसामें प्रवेश करते हैं, अर्थात् हिंसा सबसे बड़ा अधर्म है।

६. **सत्यं न सत्यं खलु यत्र हिंसा**—जिस सत्यमें हिंसा होती है, वह सत्य सत्य नहीं है। (देवीभागवत ३.११.३६)

७. श्रूयते द्विविधं शौचं यच्छिष्टैः पर्युपासितम् ।
बाह्यं निर्लेपनिर्गन्धमनाः शौचमहिंसनम् ॥
अद्भिः शुद्ध्यन्ति गात्राणि बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ।
अहिंसया च भूतात्मा मनस्सत्येन शुद्ध्यति ॥

(बौधायन धर्मसूत्र ३.१०.२३-२४)

दो प्रकारका शौच है । बाह्य शौच निर्लेपन और निर्गन्धसे होता है और अन्तः शौच अहिंसासे होता है । शरीरकी जलसे, बुद्धिकी ज्ञानसे, आत्माकी अहिंसासे और मनकी सत्यसे शुद्धि होती है ।

८. बोधायन धर्मसूत्रमें तपोंकी गणनामें 'अहिंसा' को प्रथम स्थान दिया है ।

अहिंसा सत्यमस्तैनं सवनेषूदकोपस्पर्शनं गुरुशुश्रूषा ।
ब्रह्मचर्यमधः- शयनमेकवस्त्राऽनाशक इति तपांसि ॥ (३.१०.१४)

९. पातंजल योगसूत्रमें पाँच यमोंमें अहिंसाको प्रथम स्थान दिया है—
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः (साधनपाद.६०)

१०. स्वयं भगवान श्रीकृष्ण भी उद्धवजीको उपदेश देते समय यम-नियममें अहिंसाको अन्य सब धर्मोंसे प्राथमिकता देते हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ॥
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः ।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि ॥

(श्रीम०भा० ११.१९.३३-३५)

भगवान् श्रीकपिलदेवजीने भी अपनी माता देवहूतिजीको ऐसा ही धर्म बताया है—

अहिंसा सत्यमस्तेय यावदर्थपरिग्रहः ।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम् ॥

(श्रीम०भा० ३.२८.४)

११. श्रीमद्भगवद्गीतामें दैवीसम्पद् गुणोंमें अहिंसाको सत्यसे भी पहिले स्थान दिया है—

अहिंसा सत्यमक्रोध......(गीता १६.२)

१२. परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा। (रामचरित मानस)

१३. श्रीविष्णु शर्मा विरचित पंचतन्त्रमें—जहाँ कहानियोंके रूपमें व्यावहारिक ज्ञानकी शिक्षा दी गई है—अहिंसाको ही प्रधान धर्म बताकर उसकी प्रशंसा की गई है। काकोलूकीय (तृतीय तन्त्र) में वर्णन है—

हिंसकान्यपि भूतानि यो हिनस्ति स निर्घृणः।
स याति नरकं घोरं किं पुनर्यः शुभानि च॥

अर्थात्—जो (विना कारण) हिंसक प्राणियोंको भी मारता है, वह निर्दयी होता है और घोर नरकमें जाता है। जो निर्दोष अच्छे प्राणियोंको मारता है, उसके लिये क्या कहना।

महाभारतमें तो स्थान-स्थानपर 'अहिंसा' का प्रतिपादन किया गया है, जैसे :—

वनपर्व—

अहिंसानिरतः स्वर्गं गच्छेदिति मतिर्मम। १८१.२ ; १७८.२
अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते। १८१.१० ; १७८.१०
अहिंसा धर्मनित्यता। १८१.४२ ; १७८.४३
अहिंसा चैव जन्तुषु। १८९.२२ ; १८७.२१
अहिंसा परमो धर्मः। २०७.७४ ; १९८.६९
अहिंसा सत्यवचनम्
भूतानामनुकम्पकाः
सन्तो लोकसाक्षिणः / लोकसत्कृताः। २०७.९१-९२-९३ ; १९८.८७-८८

धर्मव्याध द्वारा हिंसा और अहिंसाका विवेचन—सम्पूर्ण अध्याय २०८ ; १९९

अहिंसा समता शान्तिः.........प्रियो ह्यसि सदा मम।
३१४.८ ; २९८.८

उद्योगपर्व—

अहिंसैका सुखावहा। ३३.५२ ; ३३.४८

द्रोणपर्व—

अहिंसा सर्वभूतेषु धर्मं ज्यायस्तरं विदुः। १९२.३८ ; १६५.२९

शान्तिपर्व, राजधर्मानुशासन—

अहिंसो मन्दकोऽजल्पो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः। ३५.३७ ; ३५.३३
अहिंसा सत्यमक्रोध क्षमेज्या धर्मलक्षणम्। ३६.१० ; ३७.७
अहिंसा सत्यमक्रोधो वृत्तिदायानुपालनम् । ६५.२० ; ६५.२०
येष्वानृशंस्यं सत्यं चाप्यहिंसा तप आर्जवम्। ८०.४
अहिंसको ज्ञानतृप्तः स ब्रह्मासनमर्हति। ७९.६ ; ८०.६
अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा।
एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम्॥ ७९.१८ ; ८०.१७
अहिंस्रः सर्वभूतेषु सत्यवाक् सुदृढव्रतः। १११.६ ; ११२.६

शान्तिपर्व, आपद्धर्म—

अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात् परम्॥ १६१.८ ; १५५.८
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश। १६२.९ ; १५६.९

शान्तिपर्व, मोक्षधर्म—

अहिंस्रः सर्वभूतानां मैत्रायणगतश्चरेत्। १८९.१२ ; १८२.१२
अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतं तपः। १९१.१५ ; १८४.१५
अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
क्षमा चैवाप्रमादश्च यस्यैते स सुखी भवेत्॥ २१५.६ ; २०८.६
अहिंसकः समः सत्यो धृतिमान् नियतेन्द्रियः।
शरण्यः सर्वभूतानां गतिमाप्नोत्यनुत्तमाम्॥ २४५.२० ; २३७.२०
अनुवर्तामहे वृत्तमहिंस्राणां महात्मनाम्। २६२.१९ ; २५४.२०

अहिंसाविकृतं कर्म इह चैव परत्र च। २६४.६ ; २५६.६
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता। २६५.६ ; २५७.६
आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम्।
पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोति यत्परम्।
२७०.३६-४० ; २६२.३७-३८
अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः। २७२.२० ; २६४.१६
अज्ञानात् तु कृतां हिंसामहिंसा व्यपकर्षति।
तथा कामकृतं नास्य विहिंसैवानुकर्षति।
२६१.१२-१३ ; २८०.१२-१३
अहिंसा चानृशंस्यं च विधिवत् परिपालय। ३२१.५ ; ३०६.४
अहिंसाधर्मसंयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः।
स वो देशः सेवितव्यो मा वोऽधर्मः पदा स्पृशेत्॥
३४०.८६ ; ३२७.७८
अहिंसाधर्मयुक्तेन प्रीयते हरिरीश्वरः। ३४८.५६ ; ३३६.५२
अहिंसया परे स्वर्गं। ३५४.१२ ; ३४२.१२

अनुशासनपर्व, दानधर्म—

अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम्॥ २२.१६ ; २३.१६
अहिंस्रश्चाल्पदोषश्च स राजन् केतनक्षमः। २३.२८ ; २४.२६
अहिंसानिरता ये च.........तान् नमस्यामि केशव।
३१.१६ ; ३२.१६
......अहिंसा दम आर्जवम्......तत्पात्रं मानमर्हति।
३७.८-६ ; ३७.८-६
अहिंसायाः फलं रूपं दीक्षाया जन्म वै कुले। ५७.११ ; ५७.११
अहिंसा सर्वभूतेभ्यः.........भवत्यवभृथाय ते।
६०.१८-१६ ; ५६.१८
अहिंसानिरतो नित्यं जुह्वानो जातवेदसम्।
षड्भिरेव स वर्षैस्तु सिध्यते नात्र संशयः॥ १०७.७ ; ११०.६-७

अहिंसा सर्वभूतानाम् । १०८.४ ; १११.४
अहिंसा सत्यवचनं........गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः ।
१४१.२५ ; १२८.२५

उपवासव्रतैर्दान्ता ह्यहिंस्राः सत्यवादिनः ।
संसिद्धाः प्रेत्य गन्धर्वैः सह मोदन्त्यनामयाः ॥ १४२.३८ ; १३०.३८
अहिंसा सत्यमक्रोधो दानमेतच्चतुष्टयम् । १६२.२३ ; १४७.२२
अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः । १६३.१२ ; १४६.११

अश्वमेधपर्व—

अहिंसा सर्वधर्माणामिति वृद्धानुशासनम् । २८.१६ ; २८.१६
अहिंसेति प्रतिज्ञेयं यदि वक्ष्याम्यतः परम् । २८.१७ ; २८.१७
अहिंसा सर्वभूतानां नित्यमस्मासु रोचते । २८.१८ ; २८.१८
अहिंसा परमो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा । ४३.२१ ; ४३.१६
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च । ४६.२६ ; ४६.३५
अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतमं मतम् । ५०.२ ; ४६.२

(महाभारतके उपर्युक्त उद्धरणोंमें प्रथम संख्या गीताप्रेस संस्करणकी है और द्वितीय संख्या भंडारकर इंस्टीट्यूट संस्करणकी है)

ईसाई धर्मके अहिंसा धर्म-सम्बन्धी वाक्य—

1. For 'meat' destroy not the work of God. (Romans 14/20)
   मांसके लिए भगवानकी कृतिको नष्ट न करो ।

2. It is good neither to eat flesh, nor to drink wine, nor *anything* whereby thy brother stumbleth, or is offended, or is made weak. (Romans 14/21)
   न मांस खाना अच्छा है, न शराब पीना ; न कोई ऐसा काम करना अच्छा है जिससे हमारा भाई (साथी) लड़खड़ाने लगे, व्यथित हो या कमज़ोर हो जाय ।

3. Sacrifice and offering thou didst not desire; mine ears hast thou opened : burnt offering and sin offering hast thou not required. (Psalms 40/6)

हे भगवान् ! तुमने जीवोंका बलिदान नहीं मांगा, अग्निमें उनकी आहुति नहीं चाही। ऐसे पाप तुमको अभीष्ट नहीं हैं। तुमने मेरें कान खोल दिये।

4. I will take no bullock out of thy house,
nor he goats out of thy folds. (Psalms 50/9)

मैं तेरी सृष्टिसे न बैलको हटाऊँगा, न बकरे को।

5. For every beast of the forest *is* mine,
and the cattle upon a thousand hills. (Psalms 50/10)

जंगलमें रहनेवाले जीव और हज़ारों पहाड़ियोंपर रहनेवाले पशु मेरे हैं।

6. I know all the fowls of the mountains :
and the wild beasts of a fields *are* mine. (Psalms 50/11)

पहाड़ों पर रहनेवाले कुक्कुट, मैदानमें रहनेवाले जंगली जीव सभी मेरे हैं।

7. If I were hungry, I would not tell thee :
for the world *is* mine, and the fulness thereof. (Psalms 50/12)

मैं भूखा होऊँगा तो तुमको नहीं कहूँगा। सभी सृष्टि मेरी है और भरी-पुरी है (ईश्वरके नामपर जीव हिंसा करनेवालोंके प्रति वे कह रहे हैं कि मैंने अपनी भूख तुम्हारे सामने प्रकट नहीं की। सभी सृष्टि मेरी है और मेरी भूख शान्त करनेके लिये मुझे तुम्हारी हिंसाकी जरूरत नहीं है।)

8. Will I eat the flesh of bulls,
or drink the blood of goats ? (Psalms 50/13)

क्या मैं बैलोंका मांस खाऊँगा और बकरोंका खून पिऊंगा ?

9. I will have mercy, and not sacrifice. (Matthew 9/13)

मैं हिंसा नहीं, दया चाहता हूँ।

10. He that killeth an ox* *is as if* he slew a man, he that sacrificeth a lamb, as if he cut off a dog's neck. (Isaiah 66/3)

जिसने गोवंशकी हत्या की उसने मानो मनुष्यकी हत्या की। जिसने भेड़के बच्चेकी हत्या की उसने मानो कुत्तेकी गरदन काटी है।

(* 'Ox' का अर्थ अंग्रेजी कोशके अनुसार गोवंशके नर और मादा—दोनों हैं।)

कितने आश्चर्यकी बात है कि ईसाई धर्मावलम्बी अपने धर्मग्रन्थोंके—गोवंशकी हत्या मानव-हत्याके बराबर है—ऐसे विधान होने पर भी सबसे अधिक गोहिंसक और गोमांस-भक्षक हैं एवं स्वार्थवश दूसरोंको भी इनके लिये प्रोत्साहन देते हैं।

पारसी (जरथुस्त्र) धर्ममें भी अहिंसाको बहुत महत्व दिया है और मांसको बहुत अपवित्र माना है। उनके बम्बईके वाडिया मन्दिरके पुरोहित (धर्मगुरु) दस्तूर खुरशेदजीने अपने पत्र दिनांक ७-२-१९६९ में बताया है—

1. Our religion has the attribute :
"Not advocating compulsion and violence".
(Naida-Snaithishem)

हमारे धर्ममें विशेषता है—दबाव और हिंसाका समर्थन नहीं करना।

2. Any cruelty to animals is prohibited;
and protection or kindness is advocated.

जीवोंके प्रति क्रूरता वर्जित एवं (जीवोंकी) रक्षा, या (उनके प्रति) दयाका समर्थन है।

3. It is pointed out that at the final 'judgment' (Resurrection) man's food should consist of vegetarian products; and none would kill living creatures for food.

यह बताया गया है कि (मृत्युसे उत्थानके समय) अन्तिम निर्णयमें मानवके भोजनमें वनस्पति-वस्तुएँ होंगी और खानेके लिये जीव-हिंसा कोई भी नहीं करेगा।

4. **The sacred hymns of Zarathustra emphasise our homage (nemo) to the animal kingdom. All life is sacred.**
   जरथुस्त्रके सूक्त हमारे लिये जीवोंके प्रति आदर-श्रद्धा पर ज़ोर देते हैं। सभीका जीवन पवित्र है।

5. **Animal sacrifices are forbidden and none of our rituals ever offer meat. Nay, it has to be far away from sacred precincts.**
   जीव-बलिका निषेध है, हमारे किसी भी संस्कार या प्रथामें मांस अर्पण नहीं होता। पवित्र स्थानोंसे इस (मांस) को बहुत दूर रखा जाता है।

यद्यपि पारसी समाजके बहुतसे लोग धर्म-आज्ञाके विपरीत मांसाहारी हैं, किन्तु उनके धर्मगुरु दस्तूर श्रीखुरशेदजी स्वयं पूर्णतया शाकाहारी हैं।

श्रुति और स्मृतिमें विरोध हो तब ?

१. **विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् ।**

(जैमिनि पूर्व मीमांसा दर्शन १.३.३)

श्रुतिके विरोध होनेपर स्मृति-वाक्य त्याज्य हो जाता है। यदि श्रुतिका विरोध न हो तो अनुमान करना पड़ता है कि जैसा स्मृति-वचन मिल रहा है, वैसा ही कोई श्रुतिका वचन भी अवश्य है जो कालवशात् लुप्त हो गया, मिलता नहीं।

२. **अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।**
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ (मनु० २।१३)

अर्थ और काममें आसक्तिहीन मनुष्योंका यही धर्म बताया है, धर्मकी जिज्ञासा वालोंके लिये श्रुति सबसे अधिक प्रमाण है।

या वेद-बाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फला ज्ञेयाः तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥

(मनु० १२.९५)

याः (जो) **वेद-बाह्याः** (वेदसे बाहर—वेद-विरुद्ध) **स्मृतयः** (स्मृतियां हैं) **च** (और) **याः** (जो) **काश्च** (कोई भी) **कुदृष्टयः** (कुदृष्टियाँ—कुमार्ग दिखानेवाली हैं) **ताः** (उन) **सर्वाः** (सबको) **निष्फलाः** (निष्फल—व्यर्थ) **ज्ञेयाः** (जानना चाहिये)। **ताः** (वे सब) **हि** (निश्चयपूर्वक) **तमोनिष्ठाः** (तमोनिष्ठ—अज्ञानपूर्ण) **स्मृताः** (मानी जाती हैं)।

३. **श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी ।**
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सदा ॥ (जाबाल)

श्रुति और स्मृतिका विरोध होनेपर श्रुति ही गुरुतर होगी। विरोध न होनेपर सज्जनोंको सदा स्मार्त कार्य वैदिकवत् करना चाहिये।

४. श्रुत्या सह विरोधेन बाध्यते विषयं विना। (भविष्य पुराण)

श्रुतिके साथ विरोध होनेपर विषयके अभावमें (स्मृति) वाधित (inoperative) अर्थात् अप्रभावी हो जाती है।

५. श्रीमध्वाचार्य (स्वामी आनन्दतीर्थ) ने ब्रह्मसूत्रोंके अपने भाष्यमें वेदोंके प्रमाणके साथ कहीं-कहीं पुराणोंके वचन भी उद्धृत किये हैं, किन्तु उनके विषयमें उनने स्पष्ट लिखा है—

पुराणस्योपजीव्यश्च वेद एव न चापरः।
तद्विरोधे कथं मानं तत्तत्र च भविष्यति॥

अर्थात्- पुराणोंका उपजीव्य (आधारभूत प्रमाण) वेद ही हैं और कुछ नहीं। इसलिये वेदके विरुद्ध उनको प्रमाण कैसे माना जा सकता है?

क्या बृहदारण्यक उपनिषद्में गोमांस-भक्षणका विधान है ?

मनीषा ग्रन्थालय प्राइवेट लि०, ४१३-बी, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता द्वारा जून १९६७ में प्रकाशित राजा राजेन्द्रलाल मित्रकी अंग्रेजी पुस्तक 'प्राचीन भारतमें गोमांस' की भूमिकामें पृष्ठ २-३ पर बृहदारण्यक उपनिषद्, छठें अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण, अट्ठारहवीं कण्डिकाका उद्धरण दिया गया है जिसका अनुवाद उन्होंने यह किया है कि चारों वेदोंमें पारंगत संतान पानेके लिये पति-पत्नीके लिये गोमांस-भक्षणका विधान है। उनके द्वारा उद्धृत इसी पदको प्रायः उन सभी व्यक्तियोंने उद्धृत किया है जो 'वेदोंमें गोमांस-भक्षण' का अनुमोदन करते हैं। श्रीपाण्डुरंग वामन काणे, एम०ए०, एल-एल० एम०, एडवोकेट, हाईकोर्ट, बम्बईने भी इसका सन्दर्भ भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना द्वारा प्रकाशित अपनी अंग्रेजी भाषाकी पुस्तक 'धर्मशास्त्रका इतिहास', खण्ड २, भाग २ के 'भोजन-मांसाहार' नामक २२वें अध्यायमें दिया है। बम्बईके भारतीय विद्या भवनके इतिहासके अवैतनिक विभागाध्यक्ष श्री आर० सी० मजूमदार सरीखे विद्वान अंग्रेजी भाषाकी 'भारतीय लोगोंका इतिहास एवं संस्कृति'के २१वें अध्यायमें पृष्ठ ५७७ पर अपने अंग्रेजी भाषाके प्रबन्ध 'खाद्य एवं पेय' में मांस-भक्षणके पक्षमें श्रीपाण्डुरंग वामन काणेके 'धर्मशास्त्रका इतिहास' पर निर्भर रहे हैं। श्री ए० बी० शाहने भी, जोकि एक समय लगभग २० वर्षों तक बम्बई एवं पूना विश्वविद्यालयोंमें गणित एवं सांख्यिकीके प्राध्यापक रह चुके हैं और वर्तमानमें 'भारतमें सांस्कृतिक स्वतन्त्रताकी महासभा' के कार्यक्रमोंके निदेशक हैं तथा 'साइण्टिफिक मेथड एण्ड प्लानिंग फार डेमाक्रेसी' एवं अन्य निबन्धोंके लेखक हैं, अपनी अंग्रेजी भाषाकी 'काउ स्लाटर—हार्न्स आफ ए डिलेमा' के परिचयमें बृहदारण्यक उपनिषद्के उसी विवादास्पद पद पर मांस-भक्षणके पक्षमें जोर दिया है। प्रस्तुत लेखमें, हम बृहदारण्यक उपनिषद्के उस बहुचर्चित पदपर विचार करते हैं जिसका सन्दर्भ ऊपर दिया गया है।

क्या बृहदारण्यक उपनिषद्में गोमांस-भक्षणका विधान है ? पद इस प्रकार हैं—

अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितोविगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान् वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति माँसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा ॥ (बृहदारण्यक उपनिषद्, ६-४-१८)

राजा राजेन्द्रलाल मित्रकी 'वीफ इन एन्सिएण्ट इण्डिया' की भूमिकामें प्रस्तुत पदका अंग्रेजीमें जो अर्थ दिया गया है उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

"और यदि कोई व्यक्ति एक ऐसे पुत्रकी आकांक्षा करता है—जो प्रसिद्ध, सार्वजनिक, लोकप्रिय वक्ता हो एवं सभी वेदोंका ज्ञाता तथा पूर्ण आयु तक जोवित रहनेवाला हो—तो उसे मांस तथा चावलको उबालकर उसे तथा उसकी पत्नी—दोनोंको सन्तानके योग्य अवस्थामें मक्खनके साथ खाना चाहिये। मांस एक युवा अथवा बुड्ढे सांड़ (बैल) का होना चाहिये।"

मि॰ राबर्ट अर्नेस्ट ह्यूम (Mr. Robert Earnest Hume, Ph.D., D. Theol., Professor of the History of Religions in Union Theological Seminary, New York) ने भिन्न शब्दोंमें लगभग वैसा ही अनुवाद किया है। अन्तर इतना ही है कि मांसको उन्होंने या तो गो-वत्सका (Veal) अथवा युवा पशुका (Beef) बताया है।

इसमें विवादास्पद शब्दोंके अर्थ इस प्रकार किये गये हैं—

	राजा राजेन्द्रलाल मित्रकी पुस्तकमें	मि॰ राबर्ट अर्नेस्ट ह्यूम द्वारा
मांसोदनम्	चावल एवं मांस	चावल एवं माँस
औक्षेण	युवा बैल (सांड़) का मांस	बछड़ेका मांस (गोवत्सका मांस)
अर्षभेण	वृद्ध बैल (सांड़) का मांस	युवा गोवंशके पशुका मांस

अंग्रेजी शब्द कोशके अनुसार Veal का अर्थ है गो-वत्सका मांस और Beef का अर्थ गोवंशके युवा पशुका मांस ।

यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि चावल एवं घीके साथ मिश्रित एक गोवत्स या युवा पशु अथवा युवा या वृद्ध सांड़ (बैल) का पकाया हुआ मांस ऐसा पुत्र उत्पन्न कर सकता है जो सभी वेदोंमें पारंगत हो तो पश्चिमी देशोंके लोग, जो प्राय: सभी गोमांस-भक्षक हैं, अवश्य ही सारे वेदोंके विद्वान् होते, किन्तु बात ऐसी नहीं है। हमें इस पदके भावका परीक्षण विषयके सन्दर्भमें ही करना चाहिये।

उपर्युक्त बहुविवादास्पद पदके तुरन्त पहले बृहदारण्यक उपनिषद्में निम्न चार पद हैं—

> स य इच्छेत् पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१४॥

> अथ य इच्छेत् पुत्रो मे कपिल: पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१५॥

> अथ य इच्छेत् पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन् वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१६॥

> अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१७॥

ये चारों पद, सभी अनुवादकर्त्ताओंके अनुसार, एक अथवा अनेक वेदोंमें पारंगत सन्तानके लिये निम्न प्रकारसे भोजनका निर्धारण करते हैं—

एक वेदके ज्ञाता पुत्रके लिये	दूधके साथ पकाया हुआ तथा घीके साथ मिश्रित चावलका भोजन,
दो वेदोंके ज्ञाता पुत्रके लिये	दहीके साथ पकाया हुआ तथा घीके साथ मिश्रित चावलका भोजन,
तीन वेदोंके ज्ञाता पुत्रके लिये	पानीके साथ पकाया हुआ तथा घीके साथ मिश्रित चावलका भोजन, तथा
विदुषी कन्याके लिये	तिलके साथ पकाया हुआ तथा घीके साथ मिश्रित चावलका भोजन।

पाश्चात्य विद्वानोंके अनुसार चारों वेदोंका प्रकट क्रम इस प्रकार है—
(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद, और (४) अथर्ववेद।

यदि ऊपर उद्धृत बृहदारण्यक उपनिषद्के पदोंका क्रमिक सम्बन्ध वेदोंके क्रमसे माना जाय तो इसका तात्पर्य यह होगा कि विभिन्न वेदोंमें पारंगत पुत्रकी प्राप्तिके लिये दम्पतीके भोजनका विधान इस प्रकार है—

१. ऋग्वेद	के लिये	घीके साथ मिला हुआ	चावल और	दूधका भोजन	।
२. ऋग् और यजुर्वेद	,,	,,	,,	दही ,,	।
३. ऋग्, यजुः और सामवेद	,,	,,	,,	पानी ,,	।
४. ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद	,,	,,	,,	गोमांस ,,	।

यदि यह सत्य स्वीकार कर लिया जाय तो अथर्ववेदके लिये ही गोमांसका भोजन आवश्यक है।

उपर्युक्त प्रसंगमें एक अथवा दो अथवा तीन वेदोंमें पारंगत पुत्रके लिये भेड़ अथवा बकरे आदि जैसे अल्पकाय जानवरके मांसके भोजनका भी संकेत नहीं किया गया है। तब यह कैसे सहसा न्यायोचित मान लिया जाय कि चारों वेदोंमें—और वह भी केवल अथर्ववेदमें—पारंगत पुत्रकी प्राप्तिके लिये गोमांसके भोजनका निर्धारण किया गया है। हमें इसपर और भी सूक्ष्मतासे विचार करना चाहिये।

जिस प्रकार अंग्रेजीमें 'फ्लेश' (flesh) शब्दका अर्थ 'जानवरकी मांसल पेशियाँ' के अतिरिक्त 'फलों एवं सब्जियोंका गूदेदार मुलायम भाग' भी होता है और 'मीट' (meat) का अर्थ 'जानवरके मांस' के अतिरिक्त 'पोषणके लिये खाद्यके रूपमें कोई खाद्य वस्तु' भी होता है, ठीक उसी प्रकार संस्कृतमें 'मांस' शब्दका अर्थ 'फलों और सब्जियों आदिका गूदेदार मुलायम भाग' भी होता है। (कोई भी शब्दकोश देखिये)

इसी प्रकार फलके छिलकेको चमड़ा कहा जाता है, उसके कठोर भागको अस्थि (हड्डी) कहा जाता है और उसके रेशोंको अस्थिबन्धक-तन्तु या नसें कहा जाता है।

संस्कृतमें 'प्रस्थम् कुमारिका-मांसम् आनय' के दोनों अर्थ हो सकते है ; (१) लड़कीका एक सेर मांस लाओ, अथवा (२) कुमारी नामक औषधीय घीक्वार पौधेका एक सेर गूदा लाओ।

संस्कृतमें ऐसे अनेक शब्द हैं जो गौके अंगवाचक एवं पशुओंके अंगवाचक हैं और आयुर्वेद चिकित्सा-शास्त्रमें उसका अर्थ औषधिके पौधेका वाचक है। जैसे—

गोदन्ति —गायके दांतोंकी पंक्ति ; औषधि विशेष

गोक्षुर —गायके खुर ; गोखरू नामक प्रसिद्ध औषधि

गो जिह्वा —गायकी जीभ ; गाजवां, गोजवां नामक औषधि

अजाकर्ण —बकरीका कान ; असन अर्जुन नामक एक प्रकारका पेड़ जिसके अंश औषधिमें प्रयोग होते हैं।

अजा —बकरी ; एक प्रकारका कन्द जिसकी आकृति बकरीके स्तनों जैसी होती है।

इन शब्दोंको देखकर यदि कोई गायके या अन्य पशुके शरीरके अंशका ही अर्थ करे तो उसकी बुद्धिकी बलिहारी है।

बृहदारण्यक उपनिषद्का यह अध्याय (६-४) 'मनुष्य इच्छित विद्वान् सन्तान कैसे प्राप्त करे' के सम्बन्धमें है। इस अध्यायका पहला पद है—

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥१॥

जिसका अर्थ है—

सब भूतोंका रस पृथिवी है,
पृथिवीका रस जल है,
जलका रस औषधियाँ हैं,
औषधियोंका रस पुष्प है,
पुष्पोंका रस फल है,
फलोंका रस पुरुष है, और
पुरुषोंका रस (सार) शुक्र है।

पृथिवीसे लेकर शुक्र (मानव वंशका बीज) तकके इस क्रममें जानवरोंके मांससे सम्बन्ध रखनेवाली कोई भी वस्तु नहीं है।

इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि उच्च श्रेणीकी सन्तानके लिये उच्च श्रेणीका शुक्र ग्रौषधीय पौधोंके फलों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, न कि किसी भी प्रकारके जानवरके मांस द्वारा।

'औक्षेण' शब्द 'उक्षा' से बना है। इस शब्दका ग्रर्थ सर मोनियर-विलियम्स द्वारा संकलित प्रसिद्ध संस्कृत-ग्रंग्रेजी शब्द-कोशमें निम्न प्रकार दिये हुए हैं जो यहाँ देने प्रासंगिक हैं—

(i) a bull (as impregnating the flock) ;
सांड (गायोंके गर्भाधान्में समर्थ)

(ii Name of 'Soma' (as sprinkling or scattering small drops) ;
सोम (झरता-टपकता हुग्रा ग्रर्थात् रससे परिपूर्ण)

(iii) One of the eight chief medicaments (rishabhak).
ग्रष्टवर्ग ग्रौषधियोंमेंसे एक (ऋषभक)

'ग्रार्षभेण' शब्द 'ऋषभ' से बना है। उसी शब्द-कोशमें इस शब्दका विवरण इस प्रकार दिया हुग्रा है—

(i) a bull (as impregnating the flock) ;
सांड (गायोंके गर्भाधानमें समर्थ)

(ii) a kind of medicinal plant (Sushruta, Bhava-Prakash) ;
एक प्रकारका ग्रौषधीय पौधा (सुश्रुत, भावप्रकाश)

(iii) Carpopogan pruriens.

प्रसिद्ध संस्कृत जर्मन कोशमें भी–जिसका नाम 'Sanskrit Werterbuch' है, जिसका प्रकाशन Imperial Academy of Sciences, St. Peterburg ने किया है–'उक्षा' शब्दका ग्रर्थ 'झरता-टपकता ग्रर्थात् रससे परिपूर्ण सोम' किया है जिसका उल्लेख उसी कोशके ग्रनुसार ऋग्वेदके १.१३५.६, ९.८३.२, ९.८५.१०, ९.८६.४३, ९.८९.२ तथा ९.९५.४ मन्त्रोंमें ग्राया है।

(उक्षा शब्द सोमके अर्थमें और भी कई वेद मन्त्रोंमें आया है–देखिए स्वर्गीय पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा सम्पादित, स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम, पारडी (गुजरात) द्वारा प्रकाशित 'गो-ज्ञान-कोश,' प्राचीन खण्ड–वैदिक विभाग, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २२८ से २३२ तक, मन्त्र क्रम-संख्या ७९१ से ८०१ तक)

इन दोनों शब्दोंके और भी अनेक अर्थ हैं, किन्तु वे यहाँ प्रासंगिक न होनेके कारण नहीं उद्धृत किये गये।

मोनियर-विलियम्सके संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोशमें सोमलताके रसको भी सोम बताया गया है। सोम स्वयं एक प्रकारकी लता Sarcostema Viminalis अथवा Asclepias Acida है जो अपने चमत्कारपूर्ण गुणोंके लिये प्रसिद्ध एक दिव्य औषधि है। इसका 'अमृत' अर्थ भी किया गया है। दूसरी भारतीय भाषाओंके शब्दकोशमें भी सोमलताके सम्बन्धमें लगभग इसी तरहके अर्थ मिलते हैं।

उपर्युक्त १८वें पदके अन्तिम शब्द 'औक्षेण वा आर्षभेण वा' हैं जिनका अर्थ या तो 'उक्षा' अथवा 'ऋषभक' है। अतएव 'उक्षा' और 'ऋषभक' निश्चय ही दो वस्तुएँ होनी चाहिए, न कि क ही वस्तु। शब्दकोशके अनुसार 'उक्षा' शब्दका अर्थ 'गोवत्स' (बछड़ा) नहीं है; यदि 'उक्षा' और 'ऋषभ' दोनों ही शब्दोंका गो-सन्तानके रूपमें विचार किया जाय तो उनका अर्थ '(गायोंका गर्भाधान करनेमें समर्थ) सांड़' होगा अर्थात् दोनों एक ही होंगे। अतएव 'उक्षा' और 'ऋषभ' शब्द 'या तो' और 'अथवा' शब्दोंके साथ एक ही वस्तुके लिये और एक ही अर्थमें अर्थात् सांड़के लिये नहीं हो सकते। इस पदका तात्पर्य 'उक्षा' और 'ऋषभ' शब्दोंके साथ 'या तो' और 'अथवा' शब्दोंका सम्बन्ध 'उक्षा' और 'ऋषभ'—इन दो शब्दों द्वारा निश्चय ही किन्हीं भिन्न वस्तुओंका बोध कराना होगा। औषधि शास्त्रमें 'उक्षा' का अथ 'ऋषभ' भी हो सकता है, किन्तु 'उक्षा' और 'ऋषभ' के साथ 'या तो' और 'अथवा' शब्द होनेपर औषधि-शास्त्रका 'उक्षा' का अर्थ 'ऋषभ' यहाँ नहीं हो सकता। अतएव 'उक्षा' शब्दका अर्थ (झरता-टपकता हुआ–अर्थात् रससे परिपूर्ण) 'सोम' तथा 'ऋषभ' का अर्थ चरक-संहिता, सुश्रुत-संहिता और भावप्रकाश में एक औषधीय पौधा है—जो 'ऋषभक' कहलाता है—होगा।

चरक-संहिताके खण्ड १, अध्याय ४-१३ में दस औषधियोंके प्रथम महाकषायका वर्णन है जिसमें 'ऋषभ' भी एक है और उसको जीवनीया (शक्ति-संवर्द्धक) कहा जाता है। पाठ इस प्रकार है—

१ २ ३ ४ ५ ६
जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली
७-८ ९ १०
मुद्गमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति

सुश्रुत-संहिताके ३८वें अध्याय (सूत्र-स्थानम्) में, जिसको द्रव्यसंग्रहणीय कहा जाता है, अनेक चीजोंमें 'ऋषभक' भी एक है।

भावप्रकाश पूर्ण-खण्डमें 'ऋषभक' अष्टवर्गकी औषधियोमेंसे एक है। पाठ निम्न प्रकार है—

१ २ ३-४ ५-६ ७-८
जीवकर्षभकौ मेदे काकोल्यो ऋद्धिवृद्धिके ॥१२०॥

अष्टवर्गके विभिन्न गुणोंमेंसे निम्न गुण सबसे महत्वपूर्ण हैं–

बृंहण (धातुवर्धक), शुक्रजनक और बलवर्धक।

वहाँ यह भी वर्णित है कि ऋषभ नामक औषधि हिमालयकी चोटीपर प्राप्त होती है। इसका आकार बैलके सींगके समान होता है।

उपर्युक्त अनेक प्रसंगोंमेंसे एक अर्थात् बृहदारण्यकके उसी अध्यायके पद संख्या १, १४, १५, १६ और १७ से यह बिलकुल स्पष्ट है कि पद-संख्या १८ में 'उक्षा' और 'ऋषभ' के अर्थ आयुर्वेदिक औषधियोंके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकते हैं। इसमें गो-वत्सका मांस अथवा गाय या बैलका मांस अथवा युवा या वृद्ध सांड़का मांस आदिके लिये कोई स्थान नहीं है।

क्या राजा रन्तिदेवके यहाँ गोवध होता था?

राजा राजेन्द्रलाल मित्रकी अंग्रेजी भाषाकी 'प्राचीन भारतमें गोमांस'—Beef in Ancient India (प्रकाशक : मनीषा ग्रन्थालय प्रा० लि०, कलकत्ता, जून, १९६७ संस्करण) नामक पुस्तकमें भूमिकाके पृष्ठ ३ पर राजा रन्तिदेवके यहाँ प्रतिदिन दो हजार गायें अतिथि-सेवामें मारे जानेकी बात महाभारतमें बतायी गयी है। प्रमाणमें निम्न श्लोक दिया गया है जो महाभारत, वनपर्व, अध्याय २०७ का बताया गया है, लेकिन वास्तवमें यह श्लोक चित्रशालाके संस्करणके अध्याय २०८ में और भण्डारकर संस्थाके संस्करणके अध्याय १९९ में मिलता है। सम्भव है, २०७ मुद्रणकी भूल हो।

राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज।
द्वे सहस्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं तदा।
अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तथा॥

इन तीनों पंक्तियोंका अर्थ 'वध्येते' शब्दका 'मारी जाती थीं' लेकर यह माना है कि राजा रन्तिदेवकी रसोईमें दो हजार पशु और दो हजार गायें रोज मारी जाती थीं। 'वध्येते' शब्दका अर्थ व्याकरणके अनुसार 'मारी जाती थीं' बनता ही नहीं, जिसका विवेचन आगे किया जायगा।

भारतीय विद्या भवन, बम्बईसे प्रकाशित 'भारतीय लोगोंका इतिहास और संस्कृति'—'The History and Culture of the Indian People'—जिसके सम्पादक श्री आर. सी. मजुमदार, एम.ए., पी.एच.डी., एफ.आर.ए.एस.बी. हैं—कें खण्ड दो के पृष्ठ ५७९ पर भी उल्लेख हैं—

"According to Mahabharata, a King called Rantideva killed every day two thousand cattle and two thousand kine in order to dole out meat to the people."

अर्थात—"महाभारतके अनुसार रन्तिदेव नामक एक राजा प्रतिदिन लोगोंको मांस बांटनेके लिये दो हज़ार पशुओं और दो हज़ार गायोंकी हत्या करता था।"

इस उक्तिके प्रमाणमें न तो उन्होंने महाभारतका कोई उद्धरण दिया है और न प्रसंगके स्थानका संकेत किया है। प्रतीत होता है कि उन्होंने भी पूर्वापर प्रसंगके बिना सोचे-समझे दूसरोंकी देखा-देखी यह बात लिख मारी है जो भारतीय विद्या भवन जैसी संस्थाके लिये नितान्त अनुचित है क्योंकि उनके प्रकाशनोंका साधारण जन बड़ा सम्मान करते हैं।

ये श्लोक महाभारतके सब संस्करणोंमें नहीं हैं, किसी-किसीमें हैं। जिन-जिन संस्करणोंमे ये श्लोक हैं उनमें आगेकी दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं —

समांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः।
अतुला कीर्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम॥

इसका अर्थ है—हे द्विजश्रेष्ठ! सदा मांस सहित भोजन देनेवाले राजा रन्तिदेवकी अनुपम कीर्ति हुई।

आइये, अब उनकी यथार्थताके सम्बन्धमें विचार किया जाय।

'अहिंसा' धर्मके प्रतिपादनके साथ हिंसा द्वारा राजा रन्तिदेवके कीर्ति-गान पर विवेचन

महाभारत, वनपर्वमें यहाँपर धर्मव्याध द्वारा कौशिक ब्राह्मणको धर्मका उपदेश देते हुए हिंसा और अहिंसाका विवेचन किया गया है। इसके पूर्व अध्यायमें गीताप्रेस और चित्रशाला वाले संस्करणोंके ७४वें श्लोकमें और भण्डारकर संस्थाके संस्करणके ६९वें श्लोकमें धर्मव्याधने 'अहिंसा परमो धर्मः' का उपदेश किया है। इस अध्यायमें हिंसा और अहिंसाका विवेचन करनेमें हिंसाकी बुराई और अहिंसाकी प्रशंसा की गयी है एवं इस विवेचनमें कोई भी ऐतिहासिक उदाहरण नहीं दिया गया है।

विषयके सन्दर्भको लेकर पूर्वापर विचार किया जाय तो कोई भी समझदार व्यक्ति यह स्वीकार नहीं करेगा कि पूर्व अध्यायमें 'अहिंसा परमो धर्मः, का उपदेश देकर इस अध्यायमें सर्वत्र हिंसाकी निन्दा और अहिंसाकी प्रशंसा करनेवाला धर्मव्याध ऐसे राजाकी कीर्ति गा सकता है जिसके यहाँ नित्य प्रति दो हजार निर्दोष पशुओं और दो हजार निर्दोष गायोंकी हत्या होती हो। अतः ये श्लोक अन्य वैसे ही कुछ श्लोकों सहित

विषय-सम्बद्ध न होनेके कारण निश्चय ही प्रक्षिप्त हैं। इन श्लोकोंके प्रक्षिप्त होनेके सम्बन्धमें महाभारतमें ही और भी प्रमाण हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि राजा रन्तिदेवके यहाँ एक भी पशुकी हिंसा नहीं होती थी। वे प्रमाण हैं—

(१) अनुशासन-पर्वके अध्याय ११५ में गीताप्रेसके संस्करणमें श्लोक-संख्या ६३ से ६७ तक और चित्रशालाके संस्करणमें श्लोक-संख्या ७२ से ७६ तक बहुत-से राजाओंके नाम गिनाये गये हैं, जिन्होंने कभी मांस नही खाया। उन्हींमें राजा रन्तिदेवका नाम भी है। भण्डारकर संस्थाके संस्करणमें ये श्लोक अध्याय ११६ में संख्या ६७ से ७० तक हैं।

यदि राजा रन्तिदेवके यहाँ ब्राह्मणोंको गोमांस या साधारण पशुका मांस खिलाया जाता होता तो यज्ञावशिष्ट प्रसाद (पशु-मांस) राजा रन्तिदेव भी अवश्य खाते और ऐसे होनेपर कभी भी मांस न भक्षण करने वालोंकी श्रेणीमें राजा रन्तिदेवका नाम नहीं गिनाया जाता।

(२) यदि 'समांसं ददतो ह्यन्नं' पाठ ही ठीक माना जाय तो भी आगे वर्णित राजा रन्तिदेवकी विशेषताको देखते हुए 'मांस' शब्दका अर्थ 'पशुमांस' नहीं हो सकता। शतपथ ब्राह्मणमें 'मांस' शब्द 'परमान्न' का पर्यायवाची भी है (**एतदु ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्**। शतपथ ब्राह्मण ११. ७. १. ३) और 'परमान्न' नाम दूध-चावलके मिश्रणसे बनी शक्करयुक्त खीरका है (**परमान्नं तु पायसम्**। अमरकोश २. ७. २४)। अतः इसका अर्थ होगा - पायस सहित अन्न भोजन करानेसे राजा रन्तिदेवकी अतुल कीर्ति हुई, न कि पशु-मांस भोजन करानेसे।

(३) २००० गायोंका प्रतिदिन वध हो तो एक सालमें ७,२०,००० गायें नष्ट हो जायेंगी। प्रतिवर्ष लगातार इतनी गायोंका वध हो तो धीरे-धीरे गोवंश ही नष्ट हो जायगा। अतः व्यावहारिक दृष्टिसे भी यह बात ठीक नहीं लगती।

(४) गीताप्रेस और चित्रशालाके संस्करणोंमें महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय ६७ में राजा सृंजयसे नारदजी राजा रन्तिदेवकी महत्ताका वर्णन कर रहे हैं, जिसमें उन्होंने कहा है कि राजा रन्तिदेवने ब्राह्मणोंको न्याय-पूर्वक प्राप्त हुए धनका दान किया और उस दानमें वे हजारों 'निष्क'

प्रतिदिन दान किया करते थे। वहाँ एक 'निष्क' का परिमाण बताया है—'सुवर्णके एक हजार वृषभ, प्रत्येक वृषभके पीछे सौ-सौ गायें और एक सौ आठ स्वर्ण-मुद्राएँ'।

(५) शान्तिपर्व, गीताप्रेस और चित्रशालाके संस्करण अध्याय २६२, श्लोक संख्या ४७ तथा भण्डारकर संस्थाके संस्करण अध्याय २५४, श्लोक-संख्या ४५ इस प्रकार हैं—

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वालभेत् तु यः॥

अर्थात् - श्रुतिमें गौओंको अघ्न्या (अवध्या) कहा गया है, फिर कौन उन्हें मारनेका विचार करेगा ? जो पुरुष गाय और बैलोंको मारता है, वह महान् पाप करता है।

इससे पाठक विचार करें कि ऐसे दानी और मांस-भक्षण से घृणा करनेवाले महात्मा राजा रन्तिदेवके यहाँ २००० निर्दोष पशु और २००० निर्दोष गायों का मांस अतिथियोंके लिये रसोईमें राँधा जाना सम्भव और युक्तिसंगत है क्या ?

गायके 'अवध्या' होनेके और राजा रन्तिदेवके महाभारतके उपर्युक्त उदाहरणोंसे - राजा राजेन्द्रलाल मित्रके अंग्रेजी प्रबन्ध 'प्राचीन भारतमें गोमांस' की भूमिकामें जो श्लोक महाभारतके बताये हैं—वे यथार्थ हैं, इस-पर कैसे विश्वास किया जा सकता है।

बहुत-से लोग किसी भी प्रसिद्ध व्यक्तिके द्वारा जनसाधारणके सम्मुख घोषित किये हुए शास्त्रीय प्रमाणको सत्य विश्वास कर लेते हैं और स्वयं संस्कृत भाषासे अनभिज्ञ होनेके कारण उसको मूल ग्रन्थसे मिलान करनेका कष्ट भी नहीं उठाते और उसके विषयमें संदिग्धता भी नहीं रखते।

संयुक्तप्रांत विधानसभाके भूतपूर्व उपाध्यक्ष श्रीमुकन्दीलाल तथा राहुल सांकृत्यायनके भ्रामक विचारोंपर विवेचन

कुछ समय पूर्व एक पुस्तक 'Cow Slaughter–Horns of a Dilemma' 'गोहत्या—द्विविधाकी परिस्थिति,' लालवानी पब्लिशिंग

हाउस द्वारा प्रकाशित हुई थी जिसके सम्पादनकर्ता हैं कोई श्री ए. बी. शाह, जो पूना व बम्बई विश्वविद्यालयमें २० वर्षों तक गणितशास्त्रके प्राध्यापक रहे बताये गये हैं एवं वर्तमानमें Congress of Cultural Freedom संस्थाके Director of Programme in India हैं, जिन्होंने इसी प्रकारकी बहुत-सी अनर्गल बातें लिखी हैं। इसी पुस्तकमें एक प्रबन्ध है 'Cow-cult in India'—'भारतमें गो-पूजा', जिसके लेखक हैं कोई मुकन्दीलाल, जो आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयके स्नातक–Oxford Graduate तथा कानूनके बैरिस्टर हैं एवं ब्रिटिश सरकारके जमानेमें सन् १९२७-३० के समयमें यू. पी. की विधान-सभाके उपाध्यक्ष रहे हैं। उनके संस्कृत-ज्ञानकी शिथिलता इसी बातसे प्रकट हो जाती है—जहाँ वे लिखते हैं कि वैष्णव-आचार्य महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने श्रीमद्भागवत महापुराणका हिन्दी अनुवाद किया है। जहाँ तक हमारी जानकारी है, उन्होंने इस ग्रंथकी संस्कृत टीका लिखी है, जिस टीकाका नाम 'सुबोधिनी' है। अपने प्रबन्ध 'Cow-cult in India' में भारतवर्षमें प्राचीनकालमें गोहत्या होती आई है, इसके प्रमाणमें मुकन्दीलालने राहुल सांकृत्यायनके स्वच्छन्दतासे प्रमाण दिये हैं जो उन्होंने अपनी हिन्दींकी पुस्तक 'बोल्गासे गंगा' में यत्र-तत्र उल्लेख किये हैं। आइये, अब मुकन्दीलालके द्वारा दिये गये प्रमाणों पर जो राहुल सांकृत्यायनकी 'बोल्गासे गंगा' पुस्तक में दिये गये हैं, विचार किया जाय।

राहुल सांकृत्यायनने अपनी पुस्तकके पृष्ठ २२८ की पाद-टिप्पणीमें महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय ६७ के पहले दो श्लोकोंकी तीन पंक्तियोंका उद्धरण दिया है जो इस प्रकार है—

सांकृतिं रन्तिदेवं च मृतं सृंजय शुश्रुभ।
यस्य द्विशतसाहस्रा आसन् सूदा महात्मनः॥
गृहानभ्यागतान् विप्रानतिथीन् परिवेषकाः।

राहुल सांकृत्यायनने इसका भाव बताया है कि राजा रन्तिदेवकी रसोईमें गोमांस पकानेवाले दो हजार रसोइये रहा करते थे और इसीको मुकन्दीलालने भी मान लिया है। मूल श्लोकमें शब्द है 'द्विशतसाहस्रा'—जिसका अर्थ है २०० हजार अर्थात् दो लाख, न कि दो हजार। इसीसे राहुल सांकृत्यायन एवं मुकन्दीलालके संस्कृतभाषाके ज्ञानका अनुमान लगा लीजिए। इन तीन पंक्तियोंमें गोमांसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। राहुल

सांकृत्यायनने बड़ी चालाकीके साथ इन तीन पंक्तियोंके बाद चौथी पंक्ति छोड़ दी, जिसका पाठ इस प्रकार है—

पक्वापक्वं दिवारात्रं वरांन्नममृतोपमम् ।

इन चारों पंक्तियोंका अर्थ गीताप्रेसके महाभारतमें इस प्रकार है—

'पुत्र-शोकमें दुखी राजा सृंजयसे नारदजी कहते हैं—सृंजय ! सुना है कि संकृतिके पुत्र रन्तिदेव भी जीवित न रह सके । उन महामना नरेशके यहाँ दो लाख रसोइये थे, जो घरपर आये हुए ब्राह्मण अतिथियोंको अमृतके समान मधुर कच्चे (दाल, भात इत्यादि) और पक्के (पूड़ी, कचौड़ी, मिठाई, सब्जी आदि) उत्तम अन्न दिन-रात परोसते थे ।'

आगे जाकर उसी अध्यायकी दो पंक्तियोंके अर्थमें भी राहुल सांकृत्यायनने अर्थका अनर्थ किया है । उनका पाठ इस प्रकार है—

तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।
सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मासं यथा पुरा ॥

राहुल सांकृत्यायन इस श्लोकके 'मासं' शब्दका पाठ 'मांसं' बदलकर इसका अर्थ करते हैं—

'रन्तिदेवके यहाँ ब्राह्मण अतिथि इतने बढ़ जाते थे कि रसोइयोंको मांसकी कमीके कारण सूप ज्यादा ग्रहण करनेकी प्रार्थना करनी पड़ती थी ।'

शुद्ध पाठके अनुसार अन्वय और गीताप्रेसने जो इसका अर्थ किया है, वह इस प्रकार है—

तत्र (वहाँ) सुमृष्टमणिकुण्डलाः (विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण किये) सूदाः (रसोइये) क्रोशन्ति स्म (पुकार-पुकारकर कहते थे) सूपं भूयिष्ठम् (आप लोग खूब तरल पदार्थ—दाल, कढ़ी आदि) अश्नीध्वं (खाइये) यथा (वैसी) पुरा (पहले) मासं (एक महीने तक) नाद्य (नहीं बनी थी) ।

पूर्वोल्लिखित महाभारत द्रोणपर्व ६७.२ की दूसरी पंक्तिमें 'वरान्नममृतोपमम्' में ब्राह्मणोंको 'वरान्नम्' भोजन करानेकी बात आती है जिसका अर्थ होता है 'अमृत समान उत्तम अन्न' । यहाँ

'वरान्नम्' वाक्य अमृत-तुल्य होनेसे 'परमान्नम्' का पर्यायवाची है। अमरकोशमें 'परमान्नं तु पायसं' (अमरकोश २.७.२४) बताया है, अर्थात् पायस (दूध और चावल से बनी शक्करयुक्त खीर) ही परम अन्न है जो पहिले भी बताया जा चुका है। अतः राजा रन्तिदेवके यहाँ रसोईके लिये जो गायें बांधी जाती थीं वे पायसके लिये अपने दूधको सुलभ करनेके लिये ही हो सकती है, न कि वध करके मांसके लिये। पशु-वधशाला न तो रसोईमें होती है और न रसोईके निकट। वधशालामें इतनी गन्दगी होती है कि आवाससे बहुत दूर नगर के बाहर रक्खी जाती हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि राजा रन्तिदेवके यहाँ न तो गोवध होता था और न अन्य पशुओंका वध और न किसी प्रकारका मांस खिलाया जाता था या खाया जाता था।

द्रोणपर्वका उपर्युक्त प्रसंग, अभिमन्यु-वधसे दुःखी राजा युधिष्ठिरको व्यासदेव द्वारा सान्त्वना देते हुए सुनाया गया लिखा है जो पूर्वकालमें पुत्र-शोकमें दुःखी राजा सृंजयको देवर्षि नारदने सुनाया था। इसको भण्डारकर संस्था, पूना वालोंने क्षेपक[1] मानकर अपने महाभारतके

---

1. With the stanza commences the story of the Sixteen Great Kings, which is found duplicate in the Dronaparva. The occasion in Dronaparva, the death of Abhimanyu, would lead one to suppose that these sixteen stories must have been first told in the Dronaparva and subsequently repeated in the Shantiparva. But the fact seems to have been otherwise. There are also some variations in the names of the kings and in the sequence of the stories, as can be seen at a glance......

As far as the Dronaparva list is concerned, since the Kashmir version omits the chapter altogether, it is obvious that there is a duplication from the Shantiparva original, probably by one interest in glorifying the Bhrigus.

(Bhandarkar Oriental Institute, Poona, Mahabharata, Vol. 13, Shantiparva—Rajdharma, page 649 of critical notes on chapter 29.)

संस्करणमें स्थान नहीं दिया है। यही शान्तिपर्वमें कुल-क्षयसे पीड़ित राजा युधिष्ठिरको पुनः भगवान् श्रीकृष्णने संक्षेपमें सुनाया बताया गया है। वहाँपर गीताप्रेस और चित्रशालाके महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २९ में १२८वाँ श्लोक इसी पाठ जैसा है, जिसमें श्लोकके अन्तिम चरणमें 'मासं' शब्दकी जगह चित्रशाला संस्करणमें 'मांसं' शब्द है और गीताप्रेस संस्करणमें 'भोज्यं' शब्द है। इसका पाठ 'भोज्यं' शब्द सहित राहुल सांकृत्यायनने भी स्वीकार किया है (देखिये 'वोल्गासे गंगा', पृष्ठ २२८, पाद-टिप्पणीकी अन्तिम पंक्ति)। भण्डारकर संस्था, पूनाके संस्करणमें शान्तिपर्व, अध्याय २९ में इस श्लोककी क्रम-संख्या १२० है और वहाँ भी पाठ 'मांसं' है, किन्तु उन्होंने वताया है कि उनके पास वम्बई-शासन-संग्रहमें १८९१-९५ के पुराने हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक १९८ में काश्मीरी शाखाका पाठ 'भोज्यं' है। "अहिंसा परमो धर्मः" के सिद्धान्तोंके अनुसार 'तत्र स्म सूदा......' श्लोकके अन्तिम चरणमें 'मांसं' पाठ सुसंगत नहीं होता। अतः या तो 'मासं' या 'भोज्यं' पाठ ही ठीक है। अतः राजा रन्तिदेवकी ख्याति दो हजार निर्दोष पशुओंकी और दो हजार निर्दोष गायोंकी हत्याके द्वारा कदापि नहीं हो सकती, बल्कि उन पशुओं और गायोंको पालकर उनका दान करने से ही हो सकती है।

राजा रन्तिदेवकी कीर्तिके महाभारतमें वर्णित वास्तविक कारण

राजा रन्तिदेवको ख्याति और सिद्धि प्राप्त होनेका उल्लेख महाभारत, शान्तिपर्व, गीताप्रेस और चित्रशाला संस्करणके अध्याय २९२ और भण्डारकर संस्था, पूनाके अध्याय २८१ के श्लोक संख्या ७ में भी हैं। जहाँभी फल-मूल और पत्र आदि द्वारा ऋषियोंके सम्मानकी बात कही है, मांस द्वारा नहीं। श्लोक इस प्रकार है—

> रन्तिदेवेन लोकेष्टा सिद्धिः प्राप्ता महात्मना।
> फलपत्रैरथो मूलैर्मुनीनर्चितवांश्च सः॥

महाभारत, शान्तिपर्व—राजधर्मप्रकरण, अध्याय २९ में कुलक्षयके शोकसे ग्रसित राजा युधिष्ठिरको समझाते हुए भगवान श्रीकृष्णने, पुत्रशोकसे पीड़ित राजा सृंजयको नारदजी द्वारा वर्णित प्रसंग सुनाया था जिसमें पूर्वकालके कई गुणवान्—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यसे युक्त

राजाओंका उल्लेख है, जिन्होंने शुभ कर्मों द्वारा अनेक ख्याति पायी थी, और वे भी जीवित नहीं रहे—ऐसा बताया है। उन शुभ कर्मोंमें कहीं भी जीव-हिंसा या गो-हिंसा द्वारा ख्याति-प्राप्तिकी बात नहीं कही गयी है, बल्कि गायके दानकी बात अनेक जगह आयी है। वहाँ राजा रन्तिदेवका भी उल्लेख है। गोदान द्वारा ख्याति-प्राप्तिके उदाहरण—

शतं शतसहस्राणि वृषाणां हेममालिनाम्।
गवां सहस्रानुचरं दक्षिणामत्यकालयत् ॥ (३४-३५ ; ३०)

इस श्लोकमें अंगदेशके राजा वृहद्रथद्वारा एक करोड़ स्वर्णमालाधारी गायें और बैल, सहस्रों सेवकोंके साथ दिये जानेका उल्लेख है।

तावतीः प्रददौ गाः स शिविरौशीनरोऽध्वरे। (४२ ; ३७)

इसमें राजा शिवि द्वारा अपने यज्ञमें लाखों-लाखों गो-दानकी बात है।

शतं गवां सहस्राणि शतमश्वतराणि च। (११५ ; १०८)
तावतीरेव गाः प्रादादामूर्तरयसो गयः। (११८ ; १११)

इसमें राजा गयके द्वारा लाख-लाख गायोंके दानकी बात है।

ब्राह्मणेभ्यो ददौ निष्कान् सदसि प्रतते नृपः।
तुभ्यं निष्कं तुभ्यं निष्कमिति क्रोशन्ति वै द्विजाः ॥
सहस्रं तुभ्यमित्युक्त्वा ब्राह्मणान् सम्प्रपद्यते।
अन्वाहार्योपकरणं द्रव्योपकरणं च यत् ॥
घटाः पात्र्यः कटाहानि स्थाल्यश्च पिठराणि च।
नासीत् किंचिदसौवर्णं रन्तिदेवस्य धीमतः ॥
सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमवसन् गृहे।
आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः ॥

(१२४-१२७ ; ११७-११९)

(उपर्युक्त श्लोकोंकी क्रम-संख्याके पूर्व अंक गीताप्रेस और चित्रशालाके महाभारतके हैं और दूसरे अंक भण्डारकर संस्था, पूनाके हैं।)

इन श्लोकोंमें राजा रन्तिदेवके द्वारा सहस्रों निष्क और हजारों गायोंके दान की बात है। 'आलभ्यन्त' का अर्थ यहाँ हिंसा नहीं है, बल्कि स्पर्श द्वारा गो-दान-कार्य सम्पादनकी बात है।

इस पूरे अध्यायमें राजा रन्तिदेव सहित जितने भी राजाओंका ख्याति प्राप्तिकी बात बतायी गयी है उसमें कहीं भी जीव-हिंसा या गो-हिंसा द्वारा ख्यातिकी बात नहीं कहीं गयी है ।

संसार भरमें जहाँ हिंसाको अधर्म नहीं मानते हैं वहाँपर भी हिंसाके द्वारा ख्याति मिले—ऐसी बात कहीं भी देखनेमें नहीं आयी । हिंसा द्वारा ख्याति केवल युद्धमें-प्रदर्शित पराक्रमसे होने वाली हिंसासे अथवा निर्बलकी सबलसे रक्षा करनेमें हुई हिंसासे तो हो सकती है ; अन्य प्रकारकी हिंसासे नहीं । राजा रन्तिदेव द्वारा न तो यहाँ युद्धमें पराक्रम प्रदर्शित है और न सबलसे निर्बलकी रक्षा । ऐसी हालतमें में दो हजार निर्दोष पशुओं और दो हजार निर्दोष गायोंकी हिंसा द्वारा उनकी ख्याति हुई हो—यह बात युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती, गोदान द्वारा ख्यातिकी वात ही संगत हो सकती है ।

महाभारतमें स्थान-स्थानपर अहिंसाकी प्रशंसा और हिंसाकी बुराईकी गयी है (देखिये—धर्म शास्त्रोंमें 'अहिंसा धर्मकी विशेषता' के अन्तर्गत महाभारतके उद्धरण) । अनुशासनपर्व के गीताप्रेस संस्करणके अध्याय ११४, ११५ और ११६ तथा भण्डारकर संस्करणके अध्याय ११५, ११६ और ११७ तो पूरे ही अहिंसा धर्मकी विशेषतापर हैं । उन अध्यायोंके कुछ श्लोक नीचे अर्थ सहित उद्धृत हैं :—

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापि धीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥ ११४.६ ; ११५.६
एवं लोकेष्वहिंसा तु निर्दिष्टा धर्मतः पुरा । ११४.७ ; ११५.६

जैसे हाथीके पैरके चिन्हमें सभी पदगामी प्राणियोंके पदचिन्ह समा जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वकालमें इस जगत के भीतर धर्मतः अहिंसाका निर्देश किया गया है, अर्थात् अहिंसा-धर्ममें सभी धर्मोंका समावेश हो जाता है ।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः ।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥ ११५.२३ ; ११६.२५

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है और अहिंसा परम सत्य है ; क्योंकि उसीसे धर्मकी प्रवृत्ति होती है ।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥ ११६.२८ ; ११७.३७ ;

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है और अहिंसा परम तपस्या है ।

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥ ११६.२९ ; ११७.३८

अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा परम सुख है ।

सर्व यज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम् ।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया ॥ ११६.३० ; ११७.३९

सम्पूर्ण यज्ञोंमें जो दान किया जाता है, समस्त तीर्थों में जो गोता लगाया जाता है तथा सम्पूर्ण दानों का जो फल है—यह सब मिलकर भी अहिंसाके बराबर नहीं हो सकता ।

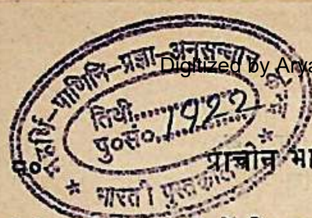
इस प्रकार अहिंसा धर्मका प्रतिपादन करनेवाले महाभारत ग्रन्थमें यदि राजा रन्तिदेवके यहाँ गोहिंसा या अन्य पशु हिंसा हुआ करती तो उनकी कीर्तिका गान करना कभी सम्भव नहीं होता ।

चर्मण्वती नदी बनने के सम्भाव्य कारण

राहुल सांकृत्यायनने 'बोल्गासे गंगा' के पृष्ठ २२७ पर लिखा है… रन्तिदेवके भोजनालयमें प्रति दिन दो हजार गायें मारी जाती थीं और उनका गीला चमड़ा रसोईमें रखा जाता था, उसीका टपका हुआ जल जो वहा, वही एक नदी बन गया और चर्मसे निकलनेके कारण उसका नाम चर्मण्वती पड़ा । प्रमाणमें उन्होंने शान्तिपर्वका श्लोक पाद-टिप्पणीमें दिया है जो इस प्रकार है—

महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात् ससृजे यतः ।
ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी ॥

यह श्लोक गीताप्रेस[1] चित्रशाला और भण्डारकर संस्थाके महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २९ में हैं । श्लोककी क्रम-संख्यामें थोड़ा अन्तर है । इस उद्धृत पूर्वापर श्लोकोंके साथ इसका विचार किया जाय, जो नीचे अर्थ सहित



दिये जाते हैं। श्लोकोंकी क्रम संख्या गीताप्रेसके संस्करणके अनुसार दी गई है।

उपातिष्ठन्त पशवः स्वयं तं संशितव्रतम्।
ग्राम्यारण्या महात्मानं रन्तिदेवं यशस्विनम् ॥१२२॥

कठोर व्रतका पालन करने वाले, यशस्वी महात्मा राजा रन्तिदेवके पास गाँवों और जंगलोंके पशु अपने-आप यज्ञके लिये उपस्थित हो जाते थे।*

महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात् ससृजे यतः।
ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी ॥१२३॥

वहाँ भीगी चर्मराशिसे जो जल बहता था, उससे एक विशाल नदी प्रकट हो गयी, जो चर्मण्वती (चम्बल) के नामसे विख्यात हुई।

ब्राह्मणेभ्यो ददौ निष्कान् सदसि प्रतते नृपः।
तुभ्यं निष्कं तुभ्यं निष्कमिति क्रोशन्ति वै द्विजाः ॥१२४॥
सहस्रं तुभ्यमित्युक्त्वा ब्राह्मणान् सम्प्रपद्यते।

राजा अपने विशाल यज्ञमें ब्राह्मणोंको सोनेके निष्क दिया करते थे। वहाँ द्विजलोग पुकार-पुकारकर कहते थे कि ब्राह्मणो! यह तुम्हारे लिये निष्क है, यह तुम्हारे लिये निष्क है, परन्तु कोई लेने वाला आगे नहीं बढ़ता था। फिर वे यह कहकर कि तुम्हारे लिये एक सहस्र निष्क हैं, लेने वाले ब्राह्मणोंको उपलब्ध कर पाते थे।

अन्वाहार्योपकरणं द्रव्योपकरणं च यत् ॥१२५॥
घटाः पात्र्यः कटाहानि स्थाल्यश्च पिठराणि च।
नासीत् किंचिदसौवर्णं रन्तिदेवस्य धीमतः ॥१२६॥

बुद्धिमान् राजा रन्तिदेवके उस यज्ञमें अन्वाहार्य अग्निसे आहुति देनेके लिये जो उपकरण थे तथा द्रव्य-संग्रहके लिये जो उपकरण—घड़े, पात्र, कड़ाहे, बटलोई और कठौते आदि समान थे, उनमें से कोई ऐसा नहीं था, जो सोनेका बना हुआ न हो।

सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमवसन् गृहे।
आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः ॥१२७॥

संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेव के घरमें जिस रातको अतिथियोंका समुदाय

* अगले पृष्ठ पर पाद टिप्पणी देखिये।

निवास करता था, उस समय उन्हें बीस हजार एक सौ गौएं छूकर दी जाती थीं।

तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः।
सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य भोज्यं यथा पुरा ॥१२८॥

वहाँ विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण किये रसोइये पुकार-पुकारकर कहते थे कि आप लोग खूब दाल-भात खाइये। आजका भोजन पहले-जैसा नहीं अर्थात् पहलेकी अपेक्षा बहुत अच्छा है।

इस प्रकारसे यह स्पष्ट है कि राजा रन्तिदेवके यहाँ हिंसा नहीं होती थी। हिंसा हुआ करती तो यज्ञमें मरनेके लिये पशु अपने आप नहीं आते।* अपने आप आनेका भाव स्पष्ट यही है कि वे स्नेह देने और स्नेह प्राप्त करने आते थे। गौ आदि पशु यज्ञके लिये दूध आदि देनेको या अन्य सेवा करनेको ही आते थे। आगे चलकर राजा रन्तिदेव द्वारा दानकी बात बतायी गयी

---

*मुनिगन निकट विहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं ॥
(रामचरितमानस, अयोध्या काण्ड, दोहा संख्या २६३ और २६४ के बीच)

मुस्लिम सन्तोंकी जीवनींका परसियन भाषाका एक ग्रन्थ है, जिसका नाम है 'तज़किरत्-उल-औलिया'। इसका उर्दू अनुवाद 'अख्बार-उल-इतकया' (सन्तोंकी जीवन घटनाएँ) नामसे प्रकाशित हुआ है। उसके पृष्ठ ५६, पंक्ति १९-२३ पर एक घटना का वर्णन इस प्रकार है—

"हज़रत राबिआ बसरी एक बार पहाड़पर गयीं। तमाम शिकारी जानवर उनके गिर्द जमा होकर आपकी तरफ देखने लगे। इतनेमें हज़रत हसन बसरी वहाँ पहुँचे। सब जानवर उनको देखकर भाग गये। हसन बसरीने दरयाफ्त किया कि जानवर मुझे देखकर क्यों भागे और तुम्हारे पास क्यों खड़े रहे ? हज़रत राबिआने पूछा—"तुमने क्या खाया हैं?" उत्तर मिला—"मैंने गोश्त-रोटी खायी है।" उन्होंने कहा—"जब तुमने गोश्त खाया है तो वे तुमसे क्यों न भागेंगे।"

इस घटनाका वर्णन 'सस्ता साहित्य मण्डल', नयी दिल्लीसे प्रकाशित हिन्दीमें 'सूफ़ी सन्त-चरित्र' १९६१ के संस्करणके पृष्ठ १६ पर भी है।

इससे स्पष्ट है कि राजा रन्तिदेवके यहाँ पशु अपने आप मरनेके लिये नहीं आते थे, बल्कि स्नेह देने और स्नेह लेनेके लिये आते थे।

है। इससे यह प्रतीत होता है कि राजा रन्तिदेव उन पशुओंको यज्ञके समय दानमें देते थे। दानमें देनेके पूर्व उनको जलसे स्नान करवाकर, धो-पोंछकर स्वच्छ बनाकर उनका शृंगार किया जाता होगा और उस स्नान करानेसे उनके चर्मका धोना होता था। उस चर्मसे जो जल बहता था उससे नदी बनी जो चर्मण्वती (चम्बल) नामसे विख्यात हुई। राहुल सांकृत्यायनके लिखनेका भाव होता है कि रसोईमें गायोंको काटा जाता था और मांस पकाया जाता था तथा कत्लके बाद मांसका उपयोग करके चर्म वहीं रसोईमें (भोजनालय-में) रक्खा जाता था, उससे टपका हुआ जल जो वहा, वही नदी बन गया। पहली बात तो यह है कि जो मांसाहारी हैं, वे भी पशुको भोजनालयमें नहीं काटते और न भोजनालयमें चर्म रखते हैं और मारे हुए पशुके मृत-चर्मसे टपकी हुई बूदें इतनी अधिक मात्रामें नहीं होती हैं कि उनसे नदी बन जाय। अतः राहुल सांकृत्यायनकी यह असम्भव कल्पना मान्य नहीं हो सकती। पूर्वापर प्रसंगके अनुसार अपने आप आये हुए पशुओंको दानके पूर्व स्नान करानेसे जो जल बहता था वह जीवित पशुओंके चर्मकी धोवन होती थी और उसी जलसे जो नदी बनी उसीका नाम चर्मण्वती पड़ना अधिक युक्ति-संगत है।

मोनियर विलियम्सके संस्कृत-अंग्रेजी कोशमें 'चमण्वती' के दो अर्थ दिये हैं—एक तो उस नदीका नाम जो बुन्देलखण्डके मध्य बहती हुई गंगामें जा मिलती है जिसको आजकल 'चम्बल' नदी कहते हैं; दूसरा अर्थ है Musa Sapientum—यह वनस्पतिशास्त्र(botany)में सामान्य कदली (केलेके वृक्ष) का पारिभाषिक नाम है। Musa शब्द अरबीके 'मौज़:' शब्दका तथा संस्कृत के 'मोच' शब्द का पर्यायवाची है। यह भी सम्भव हो सकता है कि जिस प्रदेशके भीतरसे चर्मण्वती (चम्बल) नदी बहा करती थी किसी समयमें वहाँ Musa Sapientum कदली बन रहा हो, इसीसे उसका नाम चर्मण्वती पड़ गया हो और वहाँ पर राजा रन्तिदेव द्वारा दान दिये जाने वाली गायें चरा करती हों तथा इसीलिये गोदान द्वारा फैली हुई राजा रन्तिदेवकी कीर्तिमें चर्मण्वती नदीका भी उल्लेख आया हो। जो भी हो, इतना तो निश्चय है कि राजा रन्तिदेवके रसोईघरमें मारी गयी गायोंके एकत्रित किये हुए चर्मकी ढेरीसे टपकी हुई रक्तकी बूंदोंके बहावसे चर्मण्वती नदी बनी—यह बिल्कुल निराधार बात है और न चर्मसे टपकी हुई रक्तकी बूँदोंके कारण उसका नाम 'चर्मण्वती' पड़ा। अतः राजा रन्तिदेवकी कीर्तिमें

चर्मण्वती नदीके उल्लेखसे यह कदापि प्रमाणित नहीं हो सकता कि उनकी रसोईमें गायें मारी जाकर वहाँ उनका चर्म एकत्रित होता था तथा उससे रक्तकी बूंदे टपककर नदीका बहाव बन गया और इसलिये उस नदीका नाम चर्मण्वती पड़ गया।

प्रसंगको आदिसे अन्त तक ध्यानपूर्वक देखा जाय तो राजा रन्तिदेवके यहां गोमांसकी संगति कहीं भी नहीं बैठती, गोदानकी जरूर बैठती है।

श्रीमद्भागवतमें रन्तिदेव

श्रीमद्भागवत महापुराणमें भी नवें स्कन्धके २१वें अध्यायमें राजा रन्तिदेवका इतिहास दिया है, जिसका सारांश इस प्रकार है—

राजा रन्तिदेव इतने उदार थे कि अपने स्वयंके लिये अथवा परिवारके लिये चिन्ता किये विना जो कुछ उनके पास था या जो उन्हें प्राप्त होता था, वह सब कुछ दूसरोंको दे दिया करते थे। एक बार ४८ दिन तक उनको भूखा रहना पड़ा। उसके बाद उन्हें खीर (दूध-चावलके मिश्रणसे बना भोजन), हलवा इत्यादि प्राप्त हुआ। जैसे ही वे भोजन करने बैठे, एक ब्राह्मण आया, जिसके भीतर राजा रन्तिदेवने भगवानको ही देखा और उन्होंने उसका आदरपूर्वक स्वागत किया। जब ब्राह्मण खाकर चला गया, तब राजा अपने परिवार सहित बचा हुआ भोजन करनेके लिये बैठे, तभी एक शूद्र आ गया। राजाने उस अतिथिको भी भोजनका एक अंश दिया। जैसे ही शूद्र अतिथि गया, एक दूसरा अतिथि कुछ कुत्ते साथ लिये हुए पहुँचा और उसने अपने भूखे कुत्तोंके लिये भोजन मांगा। राजा रन्तिदेवने बड़े आदरके साथ बचा हुआ सम्पूर्ण भोजन दे दिया और उन्हें भगवान्‌का रूप मानकर प्रणाम किया। अब उनके पास केवल भोजन पकाये हुए बर्तनोंका धोवन—पानी बचा हुआ था और वह भी केवल एक व्यक्तिके लिये ही पर्याप्त था। वे सकुटुम्ब आपसमें बाँटकर उस पानीको पीने ही वाले थे कि पानीकी खोज करता हुआ एक प्यासा चाण्डाल आ पहुँचा। राजाको दया आ गयी और उन्होंने सारा पानी उसे दे दिया और सृष्टिकर्त्तासे प्रार्थना की—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
(श्रीमद्भागवत ९.२१.१२)

अर्थात्—"हे भगवन्! न तो मैं अष्टसिद्धियोंसे युक्त सर्वोच्च स्थान चाहता हूँ

और न मुक्ति । मैं केवल इतना चाहता हूँ कि प्राणिमात्रके अन्त:करणमें बैठकर उनके दुं:खोंको स्वयं सहन कर लूँ, जिससे कि सभी प्राणी अपने सभी प्रकारके दु:खोंसे बच सकें ।"

जो व्यक्ति भगवानसे यह वर माँग रहा है कि मुझे मोक्ष नहीं चाहिये, स्वर्ग नहीं चाहिये, योग-साधनाके द्वारा प्राप्त होनेवाली अष्टसिद्धियाँ और नवनिधियाँ नहीं चाहिये, त्रिलोकीका साम्राज्य भी नहीं चाहिये, किन्तु मुझे चाहिये सारे संसारके प्राणियोंका दु:ख, जिसे मैं ही अकेला भोग लूँ और संसारके सब प्राणियोंको अपने सम्पूर्ण आगे-पीछेके जन्मोंके पाप कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले दु:ख न भोगने पड़ें, वे सुखी हो जायँ और उनके बदले उनका दु:ख मैं भोग लूँ—पाठकोंको स्वयं निर्णय करना चाहिये कि इतने उच्च चरित्रके वे राजा रन्तिदेव कभी भी किसी भी जीवधारीको आघात पहुँचानेकी बात सोच भी सकते हैं क्या ? उन्हें मार डालना तो अलग रहा ।

जैसा ऊपर उल्लेख हो चुका है कि महाभारत, वनपर्वके अध्याय २०८ में हिंसा-अहिंसाका विवेचन है एवं उसमें कोई भी ऐतिहासिक उदाहरण नहीं दिया गया है, तब राजा रन्तिदेवको ही कहाँसे घुसेड़ दिया गया और वह भी प्रतिपादित विषयके विरुद्ध एवं खण्डनमें । अर्थात् प्रतिपादित विषय है—अहिंसा परम धर्म है, सब प्रकारसे आचरणीय है, हिंसा अधर्म है, आचरणीय नहीं है और राजा रन्तिदेवका इस रूपमें उदाहरण कि २००० निर्दोष पशुओंकी एवं २००० निर्दोष गायोंकी प्रतिदिन हत्या करवाकर उसने बड़ा भारी यश कमाया था—मिथ्या होनेके साथ-साथ अप्रासंगिक होनेसे निश्चय ही प्रक्षिप्त है, गोमांस-भक्षी लोगोंने इसको यहाँ जबरदस्ती घुसेड़ दिया हैं, जिससे कि दूसरे लोग भी भ्रमित हो जायँ । महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, श्लोक ९ इसका प्रमाण है—

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥

अर्थात्—सुरा, मत्स्य, मधुसे बनी शराब, आसव, तिल-चावलकी खिचड़ी, मांस आदिका यज्ञोंमें उल्लेख धूर्तोंने घुसेड़ दिया है, ये सब वेदोंके द्वारा प्रतिपादित नहीं हैं ।

'बध्येते' का व्याकरण शुद्ध अर्थ

यदि प्रतिपक्षियोंकी यही जिद्द हो कि ये श्लोक प्रक्षिप्त नहीं हैं तब भी इन श्लोकोंसे पूर्वापर विषयके सम्बन्धको लेकर इन श्लोकोंका तात्पर्य 'दो हजार निर्दोष पशुओं और दो हजार निर्दोष गायोंके मारनेका' कदापि नहीं हो सकता क्योंकि दोनों श्लोकोंमें 'वध्येते' शब्दका प्रयोग आया हुआ है जिसका अर्थ 'गोवधके पक्षपाती मारना' करते हैं, किन्तु संस्कृत व्याकरणमें 'वध' धातु स्वतन्त्र है ही नहीं जिसका 'मारना' अर्थ हो सके, वल्कि मारनेके अर्थमें 'हन्' धातुका प्रयोग हुआ है। यह बात महाभाष्य (२.४.४२-४३) के 'उद्योत्' तथा 'ण्वुल्तृचौ' (३.१.१३३) कृदन्तके 'शब्देन्दुशेखर' में स्पष्ट है। इस 'हन्' धातुके स्थानमें 'वध' आदेश होता है। पाणिनिका सूत्र है—'हनो वध लिङि लुङि च'। इस सूत्रका अर्थ 'हन्' धातुको 'वध' आदेश होता है 'लिङ्' और 'लुङ्' लकारोंमें। 'लिङ्' लकार दो प्रकारके होते हैं—एक 'विधिलिङ' और दूसरा 'आशिषलिङ्'। दोनों प्रकारके 'लिङ्' में 'वध' आदेश नहीं होता, किन्तु केवल 'आशिषलिङ्' में ही होता है, जिसका अर्थ 'आशीर्वाद देना' होता है। क्योंकि 'वध' आदेश करने वाले सूत्रके पहले पाणिनीका सूत्र है—'आर्ध-धातुके (इत्यधिकृत्य)', —इसका अर्थ है कि आर्ध-धातुकमें ही 'हन्' को 'वध' आदेश होता है, 'सार्वधातुक' में नहीं। इन दो लकारों (अर्थात् आशीर्वाद अर्थमें और भूतकाल अर्थमें) के सिवा और कहीं भी 'हन्' धातुको 'वध' आदेश होता ही नहीं। 'वध्येते' प्रयोग इन दो लकारोंका नहीं है। उन दो लकारोंमें तो 'अवधीत्' और 'वध्यात्' बनता है, 'वध्येते' तीन कालमें भी नहीं बन सकता, क्योंकि 'वध्येते' यह वर्तमान काल अर्थवाले 'लट्' लकारका प्रयोग है। इस लकारमें 'हन्' धातुको 'वध' आदेश नहीं होता। इसलिए उसके प्रयोग 'हन्यते' 'हन्येते' इत्यादि बनते हैं, जैसा कि 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' (गीता २।२०), यह 'मारने' अर्थमें 'हन्' धातुका प्रयोग है। यदि वर्तमान कालमें 'वध' आदेश होता तो 'न वध्यते वध्यमाने शरीरे'—ऐसा होना चाहिये था। किन्तु यह सभी जानते हैं कि ऐसा नहीं है। इसलिये महाभारतके रन्तिदेव प्रकरणमें आये हुए दोनों श्लोकोंके 'वध्येते'—ये प्रयोग 'हिंसा'—अर्थवाले 'हन्' धातुके प्रयोग नहीं माने जा सकते। स्वतन्त्र 'वध' धातु 'हिंसा' अर्थमें संस्कृत व्याकरणमें कोई है नहीं। तब यह सोचना पड़ेगा कि यह 'वध्येते' किस धातुका प्रयोग है। अतः यही निश्चय होता है कि यह प्रयोग 'हिंसा' अर्थवाले 'हन्' धातुका नहीं है, बल्कि बन्धन

अर्थवाले 'वध बन्धने' धातुका है। संस्कृत व्याकरणमें 'ब' कार 'व' कार, 'र' कार 'ड' कार और 'ल' कार 'र' कार—इनका अभेद होता है अर्थात् 'व' की जगह 'व' और 'ब' की जगह 'व' का प्रयोग, 'र' की जगह 'ड' और 'ड' की जगह 'र' का प्रयोग तथा ल' की जगह 'र' और 'र' की जगह 'ल' का प्रयोग क्षम्य माना गया है।

महाकवि कालिदासके मेघदूतमें रन्तिदेव

महाकवि कालिदासने भी अपने 'मेघदूत' काव्यमें 'पूर्वमेघ' में एक श्लोकमें राजा रन्तिदेवकी कीर्तिका उल्लेख किया है, जिसकी क्रम संख्या किसी संस्करणमें ४५ है, किसीमें ४८ और किसीमें ४९। उस श्लोकका संधिविच्छेद अर्थ सहित नीचे उद्धृत किया जाता है—

४ २ १ ३ ९
आराध्य एनम् शरवणभवम् देवम् उल्लङ्घिताध्वा
६ ७ ५ ८
सिद्धद्वन्द्वैः जलकणभयाद् वीणिभिः मुक्तमार्गः।
१८ १० ११ १७
व्यालम्बेथाः सुरभितनया-आलम्भजाम् मानयिष्यन्
१३ १२ १४ १५ १६
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणताम् रन्तिदेवस्य कीर्तिम्॥

(१-शरवणभवम्) सरकन्डोंके वनमें उत्पन्न हुए (२-एनम्) इस (३-देवम्) भगवान् स्कन्दकी (४-आराध्य) पूजा करके (५-वीणिभिः) वीणाधारी (६-सिद्धद्वन्द्वैः) सिद्धोंके जोड़ों द्वारा (७-जलकणभयाद्) जलकी बूंदोंके डरसे (८-मुक्तमार्गः) त्यागे हुए मार्गपर चलते हुए (९-उल्लङ्घिताध्वा) कुछ दूर पहुँचे हुए तुम (१०-सुरभितनया) सुरभितनया गौके (११-आलम्भजाम्) आलम्भसे उत्पन्न (१२-भुवि) पृथ्वीपर (१३-स्रोतोमूर्त्या) स्रोतके रूपमें (१४-परिणताम्) परिवर्तित हुई (१५-रन्तिदेवस्य) रन्तिदेवकी (१६-कीर्तिम्) कीर्तिका (१७-मानयिष्यन्) सम्मान करते हुए (१८-व्यालम्बेथाः) नीचे उतरकर ठहरना।

इसमेंके 'सुरभितनया-आलम्भजाम् परिणतां भुवि स्रोतोमूर्त्या' अंशकी मल्लीनाथने अपनी 'संजीवनी' व्याख्यामें निम्न प्रकारसे टीका की है—

पुरा (प्राचीनकालमें) किल (निश्चय ही) राज्ञो रन्तिदेवस्य (राजा रन्तिदेवके) गवालम्भेषु (गौओंके आलम्भमें) एकत्र (एक स्थानपर)

संभृताद् (इकट्ठे हुए) **चर्मराशेः** (चर्मराशिसे) **रक्तनिष्यन्दात्** (रक्त टपकनेसे) **काचित्** (कोई) **नदी** (नदी) **सस्यन्दे** (वह पड़ी)। **सा** (वह) **चर्मण्वती** (चर्मण्वती) **इति आख्यायत** (नामसे प्रख्यात है) **इति**॥

इसी ग्रंशकी व्याख्या पं० माधव शास्त्रीने सुन्दरलाल जैन, पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, लाहौरसे प्रकाशित 'काव्यसारसंग्रह' (१९२९ संस्करण) के पृष्ठ १८ पर इस प्रकार की है—

सुरभितनया—गावः, तासां आलम्भनं—प्रोक्षणं, ततो जातां—प्रसूतां, भुवि, च स्रोतोमूर्त्या—प्रवाहरूपेण, परिणतां—रूपान्तरं गताम्।

इसका अर्थ होता है—

> सुरभितनया जो गायें हैं, उनका आलम्भन, अर्थात् जलसे प्रोक्षण (पवित्रीकरण) हुआ। उस कार्यसे उत्पन्न पृथ्वीपर स्रोतका प्रवाह रूपमें रूपान्तर हुआ।

पं० माधव शास्त्रीने 'आलम्भ' का अर्थ प्रोक्षण—जलके द्वारा पवित्रीकरण करके उसके द्वारा स्रोतका प्रवाह बताया है, जो केवल जलके छींटोंसे पवित्रीकरण करनेसे सम्भव नहीं हो सकता, बल्कि जलकी धारासे प्रोक्षण—स्नान करानेसे ही सम्भव हो सकता है। यद्यपि उन्होंने इसके बाद राजा रन्तिदेव द्वारा गोहत्या बतायी है—जो महाभारतमें स्थान-स्थानपर राजा रन्तिदेवके वर्णन और पूर्वापर प्रसंगके अनुसार ठीक नहीं है—किन्तु उन्होंने 'आलम्भन' शब्दका सीधा अर्थ हिंसा नहीं किया (इसी प्रकरणमें—'आलभ्यन्त' 'आलम्भन' आदि शब्दोंके अर्थ—उपशीर्षक देखिये)। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति पक्षपातरहित होकर विचार करे तो इसी निष्कर्षपर पहुँचेगा कि महाभारतमें जहाँ-जहाँ भी राजा रन्तिदेवके सम्बन्धमें उल्लेख है, उनमें कहीं भी पूर्वापर प्रसंगके अनुसार राजा रन्तिदेवके द्वारा हिंसा प्रमाणित नहीं होती बल्कि गोदान ही प्रमाणित होता है जिसके कारण उनकी कीर्ति फैली ('राजा रन्तिदेवकी कीर्तिके महाभारतमें वर्णित वास्तविक कारण' उपशीर्षक इसी प्रसंगमें देखिये)।

हिन्दू धर्मशास्त्रोंमें और ईसाईयोंके धर्मग्रन्थोंमें गोहिंसा वर्जित है; मुस्लिम धर्ममें भी गोमांस खाना हानिकारक बताया गया है (क्या वैदिक कालमें गोहिंसा, मांसपरक यज्ञ और मांस-भक्षण प्रचलित थे? प्रबन्ध देखिये)। अतः बुद्धिमान मनुष्य यह स्वीकार नहीं कर सकता कि राजा

रन्तिदेवकी कीर्तिमें गोहिंसा जनित जघन्य कार्य कारण रहा हो। ऐसी हालतमें महाभारतके 'आलभ्यन्त' और महाकवि कालिदासके 'आलम्भ' शब्दोंका अर्थ हिंसापरक नहीं हो सकता।

एक बात और भी विचारणीय है। मल्लिनाथका कहना है कि गौओंके आलम्भसे एक स्थानपर इकट्ठी हुई चर्म राशिसे टपकते हुए रक्तसे कोई नदी बह पड़ी, वह चर्मण्वती नामसे प्रख्यात है। इस व्याख्याका आधार भी महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २९ का श्लोक ही हो सकता है जिसका उल्लेख और विवेचन ऊपर हो चुका हैं ('चर्मण्वती नदी बननेके सम्भाव्य कारण' उपशीर्षक देखिये)।

अब पाठक स्वयं विचार करें कि रक्तकी बात न तो महाकवि कालिदासके काव्यके मूल पाठमें है और न उसके प्रमाणका कोई आधार ही है—ऐसी मल्लिनाथकी चर्मण्वती नदी बननेकी व्याख्या किसी भी बुद्धिमान व्यक्तिके द्वारा स्वीकार नहीं की जा सकती।

'आलभ्यन्त' 'आलम्भ' आदि शब्दोंका अर्थ

तत्वज्ञ मुनि श्रीपाणिनिके व्याकरण-शास्त्रमें ९७५ संख्यामें 'डुलभष्-प्राप्तो' धातु भ्वादिगणमें है, इसका 'लभते' रूप बनता है। समस्त शास्त्रोंके आदर करनेवाले लोग पाणिनी व्याकरणको ही सर्वश्रेष्ठ, महत्वपूर्ण और प्रामाणिक मानते हैं, इसमें 'प्राप्त करने' के सिवाय और दूसरा अर्थ बनता ही नहीं। व्याकरण शास्त्र बहुत बड़ा और गहन है—'अनन्त पारं किल शब्दशास्त्रं'। अतः इस दृष्टिसे कि 'लभ' धातुका व्याकरण शब्द-शास्त्रमें और भी अर्थ सम्भव हो सकता है क्या?—इसी समीक्षामें व्याकरण शास्त्रके धातुपाठका अन्वेषण किया गया तो प्रतीत हुआ कि प्रेरणा अर्थक 'लभ' धातु भी है, जिसको 'प्रेरणा' अर्थमें मैत्रायणी-संहितामें, सायण-भाष्यमें, चान्द्र व्याकरणमें, जैनेन्द्र व्याकरणमें, काशकृत्स्न व्याकरणमें, कातन्त्र व्याकरणमें, शाकटायन व्याकरणमें और हेमचन्द्र व्याकरणमें स्वीकार किया है। भारतवर्षकी ज्ञानमयी नगरी वाराणसीमें वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयसे भी 'धातुपाठसमीक्षा' का प्रकाशन हुआ है, उसमें भी हिंसा-अर्थक 'लभ' धातु कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

किसी महानुभावका इस प्रकार कहना है—

'पाणिनिके कुछ पूर्व ही 'लम्भ' धातुके 'तिङन्त' के प्रयोग संस्कृत

भाषामें अस्वीकार हो जानेके कारण वैयाकरणोंने 'लम्भ' धातुका धातुपाठमें संग्रह नहीं किया और लम्भ' धातुसे निष्पन्न होनेवाले शब्दोंका सम्बन्ध 'लभ' धातुसे जोड़ दिया गया जिससे 'आलभ' और, आलम्भ' दोनों शब्दोंके अर्थ समान माने जाने लगे; वस्तुतः 'लभ' और 'लम्भ' दोनों धातुओं और उससे बननेवाली क्रियाओंका अर्थ भिन्न है; 'लभ' धातुके दो अर्थ हैं—१. प्राप्ति और २, स्पर्श; तथा 'लम्भ' धातुके भी दो अर्थ हैं—१. हिंसा और २. स्पर्श; तात्पर्य यह है कि 'लभ' धातुका 'आलभ' और 'लम्भ' धातुका 'आलम्भ'-दोनों 'स्पर्श' अर्थमें समानार्थक हैं; इतना निश्चय है कि 'आलभ' का कहीं 'हिंसा' अर्थ नहीं है और 'आलम्भ' का 'प्राप्ति' अर्थ नहीं है।

इसकी पुष्टिमें उन्होंने कोई शास्त्रीय या ऐतिहासिक प्रमाण नहीं बताया।

'लम्भ' का हिंसापरक अर्थ किसी भी कोषमें नहीं मिलता। योरोपके पण्डितोंने संस्कृतका अध्ययन और संस्कृत शब्दोंके अर्थके अन्वेषणमें जितना परिश्रम किया है उतना आधुनिक कालमें किसीने नहीं किया। किसी भी शब्दका हिंसापरक अर्थ कभी रहा होता तो वह उनके अन्वेषणमें छिप नहीं सकता था क्योंकि योरोपके उन पण्डितोंका ध्येय ही 'हिन्दू धर्मशास्त्रोंमें हिंसाका विधान है'—इसीका प्रचार करना था।

'आ' के जितने भी अर्थ विभिन्न कोषोंमें मिलते हैं उनके अनुसार भी 'लभ' या 'लम्भ' में 'आ' उपसर्ग लगानेपर भी 'आलभ' या 'आलम्भ' का 'हिंसा' अर्थ नहीं बनता। तब भी कोषकारोंने 'आलभ' और 'आलम्भ' दोनोंका ही हिंसापरक अर्थ भी किया है जो रूढ़ि अर्थमें ही सम्भव हो सकता है तथा उन कोषोंने दोनों शब्दोंके ही 'ग्रहण करने, स्पर्श करने, पकड़ने' आदि अहिंसापरक अर्थ भी किये हैं। व्याकरणकी व्युत्पत्तिके हिसाबसे 'आलभ' और 'आलम्भ' के हिंसापरक अर्थ न रहनेपर भी जब कोषोंमें उनके हिंसापरक अर्थ भी स्वीकार कर लिये गये और कई स्थानोंपर इन शब्दोंका 'हिंसा' अर्थमें प्रयोग भी हुआ देखनेमें आता है तब जिस-जिस प्रसंगमें ये शब्द आये हैं, वहाँ-वहाँ विषयके पूर्वापर सम्बन्धके अनुसार ही उनके हिंसापरक या अहिंसापरक अर्थ करने होंगे।

यजुर्वेद ३०.५ में 'आलभ्' का 'प्राप्ति' मुख्य अर्थ है जैसे—

१. **ब्रह्मणे ब्राह्मणं आलभते**—ज्ञानके लिये ज्ञानी को प्राप्त करता है।
२. **क्षत्राय राजन्यं आलभते**—शौर्यके लिये शूरको प्राप्त करता है।
३. **नृत्ताय सूतं आलभते**—नाचनेके लिये सूतको बुलाता है।
४. **धर्माय समाचरं आलभते**—धर्मके लिये धर्म सभाके सदस्यको प्राप्त करता है।

स्मृति, गृह्यसूत्र आदि ग्रन्थोंमें 'आलम्भन्' तथा 'आलभते' 'स्पर्श' के अर्थमें आता है, जैसे—

१. मीमांसा दर्शन २.३.१७ की सुबोधिनी टीकामें लिखा है...'**आलम्भः स्पर्शो भवति**' अर्थात् 'स्पर्श' ही 'आलम्भन' है।

२. ब्रह्मचारीके धर्ममें—'**वर्जयेत् स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भम्**'—ब्रह्मचारीके लिये स्त्रीकी ओर देखना एवं उसको स्पर्श करना मना है। (मनु० २.१७९)

३. उपनयन संस्कारमें—'**अथास्य (ब्रह्मचारिणः) दक्षिणांसं अधिहृदयं आलभते**'—आचार्य, ब्रह्मचारीके हृदयका स्पर्श करता है।
(पारस्करगृह्यसूत्र २.२.१६)

४. विवाह संस्कारमें—'**वरो वध्वा दक्षिणांसम् अधि हृदयं आलभते**'—वर वधूके दक्षिण कन्धेके ऊपरसे हाथ ले जाकर उसके हृदयका स्पर्श करता है। (पारस्करगृह्यसूत्र १.८.८)

५. श्रीमद्भागवत महापुराणमें भी इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि यज्ञमें 'पशु-आलभन' का अर्थ 'हिंसा' नहीं है—

'**यद् घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा**'। (श्रीमद्-भागवत ११. ५. १३) अर्थात्...यज्ञमें सुराको सूंघने का विधान है, पीनेका नहीं। यज्ञमें पशुका आलभन (स्पर्श) ही विहित है, हिंसा नहीं।

६. स्पर्श शब्द दानके अर्थमें भी आता है। महाकवि कालिदासने '**गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः**' (रघुवंश २.४९) पद्यमें 'स्पर्शयता' का प्रयोग 'दान' के अर्थमें किया है।

आजकल भी यह प्रथा है कि दान दी जानेवाली वस्तुका दाता हाथसे स्पर्श करके छोड़ देता है। फिर दान लेनेवालोंको वे वस्तुयें दे दी जाती हैं या पहुँचा दी जाती हैं। जहाँपर दान दी जानेवाली वस्तुओंके प्रकार या संख्या इतनी अधिक होती है कि जिससे सबका हाथसे स्पर्श सम्भव नहीं हो वहाँ दृष्टिपात द्वारा दृष्टिस्पर्श मात्र भी होता है।

रन्तिदेव प्रकरणमें महाभारत, शान्तिपर्व, राजधर्म प्रकरणके अध्याय २९ में गोदानके द्वारा कीर्ति प्राप्त राजाओंका उल्लेख होनेसे गीताप्रेस और चित्रशाला संस्करणके १२७वें श्लोकमें तथा भण्डारकर, पूना संस्करणके ११९वें श्लोकमें 'आलभ्यन्त शतं गावः' के 'आलभ्यन्त' शब्दका अर्थ भी गोदानसे सम्बन्धित 'प्राप्ति' या 'स्पर्श' करनेके अर्थमें ही है। इसी प्रकार महाकवि कालिदासके 'मेघदूत' काव्यके 'पूर्वमेघ' नामक खण्डके 'सुरभितनया-आलम्भजां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्' में भी 'आलम्भ' शब्दका अर्थ गोदानसे सम्बन्धित ही है, हिंसासे नहीं।



क्या मधुपर्कमें गोमांस सम्भव है ?

राजा राजेन्द्रलाल मित्रने अपनी अंग्रेजी पुस्तक 'प्राचीन भारतमें गोमांस' तथा पाण्डुरंग वामन काणेने अपनी अंग्रेजी पुस्तक 'धर्मशास्त्रका इतिहास', खण्ड २, भाग १, अध्याय १०, 'मधुपर्क और अन्य रीति-रिवाज' (Madhuparka & Other Usages) तथा खण्ड २, भाग २, अध्याय १२, 'भोजन और मांसाहार' (Bhojana—Flesh-eating)—प्रकरणोंमें मधुपर्कको मांसयुक्त और वह भी गोमांसयुक्त सिद्ध करनेका प्रयास किया है। विदेशियोंके अतिरिक्त और भी अनेक भारतीय लेखक समय-समयपर अपने लेखोंमें इसीका वखान और उल्लेख करते रहते हैं। आइये, इसपर विचार किया जाय।

वेदोंमें मधुपर्क

वर्तमान युगके वेदोंके प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर अपने गो-ज्ञान-कोश, प्राचीन खण्ड—वैदिक विभाग, प्रथम खण्डमें मधुपर्कके प्रकरणमें लिखते हैं—

> "कइयोंका कथन है कि मधुपर्क विधि वैदिक है और उसमें मांस आवश्यक है। परन्तु ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदमें मधुपर्क शब्द ही नहीं है, ब्राह्मणों और उपनिषदों में भी यह शब्द नहीं है। केवल अथर्ववेद संहितामें एक वार मधुपर्क शब्द आया है। वह मंत्र यह है—
>
> **यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः।** (अथर्व० १०.३.२१)
>
> जैसा यश सोमपानमें और जैसा मधुपर्कमें है वैसा मुझे प्राप्त हो।

वेदकी चारों संहिताओंमें मधुपर्क विषयक इतना ही उल्लेख है, इसलिये मधुपर्कमें वैदिक रीतिसे क्या होना चाहिये और क्या नहीं—इसका पता नहीं लग सकता। परन्तु इतना सत्य है कि—मधुपर्कमें मांस अवश्य है—ऐसा जिनका पक्ष होगा उनके मतकी

सिद्धि वैदिक मन्त्रोंसे नहीं हो सकती। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों तक किसी भी ग्रन्थमें मधुपर्कका इससे अधिक उल्लेख नहीं है। अतः वेदके मधुपर्कमें मांसकी आवश्यकता है—यह बात वैदिक प्रमाणोंसे सिद्ध होना असम्भव है।

यद्यपि वेदोंमें अन्यत्र कहीं भी मधुपर्क शब्द नहीं है तथापि मधुपेय शब्द है यह भी इसके समानार्थक माना जा सकता है। यह एक उत्तम मधुर अर्थात् मीठा-पेय है, ऐसा निम्नलिखित मन्त्रसे प्रतीत होता है—

वृषाऽसि देवो वृषभः पृथिव्या वृषा सिन्धूनां वृषभस्तियानाम्।
वृष्णे त इन्दुर्वृषभ पीपाय स्वादू रसो मधुपेयो वराय॥

(ऋग्वेद ६.४४.२१)

इस मन्त्रके अन्तिम भागमें '**स्वादू रसो मधुपेयो**' ऐसे शब्द हैं। इनका अर्थ है—मीठा रस मधुपेय। परन्तु यह कोई स्वतन्त्र पेय नहीं है, यह सोमरस ही है जिसका सूचक इन्दु शब्द इसी मन्त्रमें है। इस मन्त्रमें वृषा, वृषभ;—ये बैलवाचक शब्द हैं।

इनके देखनेसे कइयोंने मधुपेयमें बैलके मांस की कल्पना की होगी। परन्तु यह मन्त्र इन्द्र देवताकी प्रशंसापर है और इसका शब्दार्थ है—हे इन्द्रदेव ! तू पृथ्वी द्युलोक, नदियों, स्थावर-जंगम पदार्थ आदिको बल देनेवाला है, इसलिये इस मधुपानके समय यहाँ आ। यद्यपि अंग्रेजी भाषान्तरमें मि० ग्रिफिथने Thou art the bull of earth, the bull of heaven ऐसे शब्द लिखे हैं, तथापि यहाँका तात्पर्य बैल नहीं है, अपितु शक्ति देनेवाला है—यह अंग्रेजी शब्दोंके बीचका भाव समझने वालोंको पुनः कहनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि कोई मनुष्य इस मन्त्रमें वृषा और मधुपेय—ये दो शब्द आये हैं, इसलिये मधुपेयमें बैलके मांसकी आवश्यकता है—ऐसा कहेगा तो वह कथन विश्वास करने योग्य नहीं होगा, क्योंकि जो बात मन्त्रमें नहीं है, वह मन्त्र के सिरपर मढ़ देना कोई विद्वत्ताकी बात नहीं हो सकती।"

मौनियर विलियमके संस्कृत-अंग्रेजी कोशमें भी वृष, वृषभ और वृषकर्मा शब्दोंके निम्नलिखित अर्थ मिलते हैं—

वृष—(i) a strong or a potent man.

अर्थात्–शक्तिशाली पुरुष।

(ii) The chief of the class or anything the most excellent or prominent or best of its kind.

अर्थात्–किसी वर्गका प्रमुख या अपनी श्रेणीमें सर्वश्रेष्ठ।

वृषभ—bull (in Veda, epithet of various Gods, as of Indra).

अर्थात्—बैल (यह शब्द वेदोंमें विभिन्न देवताओंका, जैसे इन्द्रका विशेषण है)।

वृषकर्मा—Doing manly deeds as Indra (Rigveda).

अर्थात्–(ऋग्वेदमें) इन्द्रकी तरह पौरुषेय कर्म करनेवाला।

इससे यह सिद्ध होता है कि अथर्ववेदमें एक स्थानको छोड़कर वेदोंमें कहीं भी 'मधुपर्क' का उल्लेख नहीं है। ऋग्वेदमें एक स्थानपर 'मधुपेय' का उल्लेख आता है। मधुपर्कमें क्या-क्या वस्तु होनी चाहिये, इसका वेदोंमें कहीं उल्लेख नहीं हैं। नामसे इतना ही सिद्ध होता है कि यह कोई मीठी वस्तु है। अतः यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वेदोंके अनुसार मधुपर्कमें किसी भी प्रकारका मांस होना सम्भव है। अन्य ग्रन्थोंके अनुसार मधुपर्कमें क्या-क्या वस्तुएँ हैं, उनपर विचार किया जाय।

मधुपर्ककी वस्तुएँ

दूरसे चलकर आये हुए विशेष-विशेष सम्माननीय अतिथियोंके लिये मधुपर्क अर्पणका विधान है। शास्त्रोंमें जहाँ-जहाँपर भी मधुपर्ककी वस्तुओंका वर्णन है, वहाँपर कहीं भी उनमें मांसका उल्लेख नहीं है। मधुपर्ककी वस्तुओंमें दही, घी, दूध, मधु, मिश्री—ये ही प्रमुख हैं। किसी-किसीने इन सबको न लेकर इन्हींमेंसे कुछ वस्तुएं ली हैं। किसी-किसी जगह मधुपर्कमें सत्तूका भी उल्लेख है।

मधुपर्ककी वस्तुएँ

किस-किस ग्रन्थमें मधुपर्ककी कौन-कौन-सी वस्तुओंका वर्णन है, उसको देखा जाय—

१. तन्त्रसार (चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसीका नवम्बर १९३८ संस्करण, प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ ५३)—

आज्यं दधिमधुमिश्रं मधुपर्कं विदुर्बुधाः

मधुपर्कमें घृत, दधि और मधुका मिश्रण ही बुद्धिमानोंने बताया है। तन्त्रसारका यही उद्धरण शब्द कल्पद्रुम (चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी द्वारा प्रकाशित, १९६१ संस्करण, भाग ३, पृष्ठ ५९९, कालम २) में भी मधुपर्कके अर्थमें उद्धत किया गया है।

२, शब्द कल्पद्रुम में वहीं पर मधुपर्कके अर्थमें, कालिका पुराण, अध्याय ७ से निम्न उद्धरण दिया है—

दधि सर्पिर्जलं क्षौद्रं सितैताभिस्तु पञ्चभिः।
प्रोच्यते मधुपर्कस्तु सर्वदेवोपतुष्टये ॥

दही, घी, दूध, मधु (शहद) और मिश्री—इन पाँचोंका मधुपर्क वनता है जो सब देवोंको तुष्ट करनेवाला है।

३. ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्यसंहिता, (स्मृति-सन्दर्भ, चतुर्थ भाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २४३०, प्रकाशक—मनसुखराय मोर, नं० ५, क्लाइव रो, कलकत्ता) अष्टम अध्याय, श्लोक संख्या २०२—

कांस्यपात्रे समायुक्तं दधिमधुघृतैर्युतम्।
मधुपर्कः स विज्ञेयो मित्रस्य त्वा प्रतीक्षणी ॥

दधि, मधु और घृतसे युक्त कांस्यपात्रमें बना हुआ पदार्थ मधुपर्क कहा जाता है।

४. आश्वलायनगृह्यसूत्र १.२४, ५.६—

दधनि मध्वानीय सर्पिर्वा मध्वलाभे ॥

दही और मधु मिलावे, मधुके अभावमें घृत।

५. पारस्करगृह्यसूत्र, विवाह प्रकरण १. ३. ५—

आहरन्ति विष्टरं पाद्यं पादार्थमुदकमर्घमाचमनीयं
मधुपर्कं दधिमधुघृतमपिहितं कांस्ये कांस्येन ॥

पहली पंक्तिमें और बातें बताकर दूसरी पंक्तिमें मधुपर्ककी वस्तुएँ बतायी हैं—

मधुपर्क—दधि, मधु, घृत कांसेके पात्रमें कांसके पात्रसे ढका हुआ।

६. वाराहगृह्यसूत्र १२.४—

कांस्ये चमसे वा सदध्नि मध्वासिच्य ।
वर्षीयसा पिधायाचमनीयप्रथमैः प्रतिपद्यते ॥

कांसेके कटोरेमें या प्रणिताके समान चमसपात्रमें मधु और दही मिलाकर एक बड़े पात्रसे ढककर आचमनीय जल आदिके सहित पूजाके लिये पूजक आवे ।

७. आपस्तम्बीय धर्मसूत्र २.४.८.८,९—
दधि मधुसंसृष्टं मधुपर्कः पयो वा मधुसंसृष्टम् । अभावे उदकम् ।
दही और मधु मिलाकर मधुपर्क तैयार करे अथवा दूध और मधु मिलाकर; अभावमें जल अर्थात् जल और मधु मिला लेवे ।

८. बोधायनगृह्यसूत्र १.२.९-१०—

सूत्र ९ में मधु लानेकी बातका उल्लेख है ।

दशवें सूत्रमें मधुमें मिलाने वाली वस्तुएँ इस प्रकार बतायी हैं—

दधि पयो वा द्वितीयं स द्विवृत्—मधुमें दही अथवा दूध मिलानेसे वह द्विवृत् कहलाता है ।

घृतं तृतीयं वा त्रिवृत् —तीसरी वस्तु घृत मिलानेसे त्रिवृत् कहलाता है ।

यद् द्वितीयं चतुर्थं सा चतुर्वृत —दूसरी वस्तु अर्थात् पहले दूध मिलाया हो तो दही मिलानेसे अथवा पहले दही मिलाया हो तो दूध मिलानेसे वह चतुर्वृत् कहलाता है ।

आपः पञ्चमीस्स पाङ्क्तः —पाँचवाँ जल मिलानेपर वह पाङ्क्त कहलाता है ।

९. जैमिनीयगृह्यसूत्र १.१९—

तयोर्दधि मधु संनिहिते भवतो, दध्ना चेत्
दधिमन्थोऽद्भिश्चेद् उदमन्थः, पयसा चेत् पयस्यः ।

अर्थात्—उनमें दही और मधु मिले रहते हैं । यदि दही हो तो

दधिमन्थ कहलाता है, यदि पानी हो तो उदमन्थ कहलाता है और यदि दूध (पयस्) हो तो पयस्य कहलाता हैं।

१०. हिरण्यकेशीगृह्यसूत्र १.१२.१०—

हिरण्यकेशीगृह्यसूत्रका ग्रन्थ न तो किसी पुस्तक-विक्रेतासे प्राप्त हो सका और न किसी पुस्तकालयसे ही। लेकिन इसका प्रमाण एक जर्मन ग्रन्थसे मिला है, जो नीचे उद्धृत किया जाता है—

Ritual Literatur Vedische Opfer und Zauber (a German language book) by Alfred Hillebrandt, published by Verlag von Karl. J. Trubner, Strassburg, 1897 में मधुपर्कका वर्णन है—

(इसमें प्रत्येक जमन भाषाकी पंक्तिके नीचे अंग्रेज़ी अनुवाद दिया है)

Hierauf folgt die Darbietung des Spulwassers und
Hereafter follows the offering of rinsing water and
des Madhuparka.
of Madhuparka.

Dieser besteeht nach H. I. 12, 10 aus drei
These comprise according to H. I. 12.10 of three
oder funf Bestandteilen, namlich dadhi, madhu,
or five components, namely curd, honey,
ghrta wozu noch apah und saktu's treten konnen.
ghee which can be mixed with water and saktus (flour of corn roasted in hot sand)

अर्थात्—हिरण्यकेशी १.१२.१० के अनुसार—प्रक्षालनके लिये जल अर्पण और फिर मधुपर्क, जिसमें तीन या पाँच वस्तुएं हैं—दधि, मधु, घृत—उसमें आपः (जल) और सक्तु (सत्तु) भी मिलाया जा सकता है।

११. मोनियर विलियम्स संस्कृत-अंग्रेजी कोशके पृष्ठ ७८० पर मधु-पर्कका अर्थ—.

1. A mixture of honey—
   मधुके मिश्रणसे बनी वस्तु ।
2. An offering of Honey & Milk—
   मधु-दुग्ध मिश्रित उपहार ।
3. A respectful offering to a guest, or to the bridegroom on his arrival at the door of the father of bride, (sometimes consisting of equal parts of curd, honey and clarified butter).

अर्थात्—अतिथिके लिये सत्कारपूर्ण समर्पणकी वस्तु, अथवा कन्याके पिताके द्वारपर वरके आगमनपर उस वरके लिये सत्कारपूर्ण समर्पणकी वस्तु, जिसमें प्रायः दही, मधु और घृत सम-भागम होता है।

और भी जहाँ-जहाँ मधुपर्ककी वस्तुओंका वर्णन है, कहीं भी मांसका उल्लेख तो दूर रहा, मांसकी गन्ध भी नहीं है। जब मधुपर्कके बनानेकी वस्तुओंमें कहीं पर भी मांसका उल्लेख नहीं है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि मधुपर्कमें मांस होना आवश्यक है या मांसविहीन मधुपर्क हो ही नहीं सकता। मधुपर्कमें सबसे आवश्यक चीज़ मधु है जिसके बिना मधुपर्क नहीं बनता। केवल आश्वलायन-गृह्यसूत्रमें मधुके अभावमें घृत लेनेका विधान मिलता है, और कहीं भी नहीं। दूध, दही या घृतके बदलेमें तो दूसरी वस्तु लेनेका विधान है। आपस्तम्बीयधर्मसूत्रमें तो दूध और दही दोनोंमें कोई भी उपलब्ध न हो तो उनकी जगह जलमें मधु मिलाकर मधुपर्क बनानेका विधान भी दिया है। केवल आश्वलायनगृह्यसूत्रमें मधुके अभावको कैसे स्वीकार कर लिया—यह समझमें नहीं आता, जब कि मधुपर्क नाम ही मधुकी आवश्यकताका द्योतक है। अवश्य ही इसमें कोई भूल है जो सम्भव है, आश्वलायनके अनुयायियोंमेंसे किसीने किसी अवसरपर मधुके अभावमें, अतिथिको प्रतीक्षा करनेका कष्ट न करना पड़े, इसलिये शीघ्रतामें मधु अभावे घृत मिलानेको कह दिया होगा। तभीसे मधुके अभावमें घृत मिलानेकी परम्पराको आश्वलायनके अनुयायियोंने मान्यता दे दी होगी। जो हो, मधुपर्ककी वस्तुओंमें मांसका तो कहीं खोजनेपर भी उल्लेख नहीं मिलता है।

मधुपर्क विधिमें गोमांस असम्भव है ।

शास्त्रोक्त मधुपर्ककी वस्तुओंके वर्णनके अनुसार यह सिद्ध होता है कि मधुपर्कमें मांसका नाम तो दूर रहा, मांसकी गन्ध भी नहीं है । इससे यह अच्छी प्रकार सिद्ध हो जाता है कि मधुपर्कमें मांस नहीं होता । जहांपर भी मधुपर्कमें मांस होनेकी बात कही गयी बतायी जाती है, जैसे—

१. नामांसो मधुपर्को भवति भवति (आश्वलायनगृह्यसूत्र),

२. न त्वेवामांसोऽर्घः स्यात् (पारस्करगृह्यसूत्र)

३. मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ।। (मनु० ५.४१)

इत्यादि, वे सब वास्तविक नहीं हैं, मिथ्या हैं और प्रक्षिप्त हैं । इनका क्रमसे पीछे विवेचन किया जायगा ।

मधुपर्क द्वारा आतिथ्य-सत्कारकी विधिमें गोमांस असम्भव है ।

सम्माननीय अतिथिके मधुपर्क द्वारा सम्मानकी विधि आश्वलायनगृह्यसूत्र १.२४ एवं पारस्करगृह्यसूत्र १.३ में विस्तारपूर्वक दी हुई है । इन्हीं दोनों गृह्यसूत्रोंके अनुसार लोग मधुपर्कमें मांस होना जरूरी बताते हैं । अतः इनमें वर्णित विधिके अनुसार मधुपर्कमें गोमांस होनेकी सम्भावनापर विचार किया जाय ।

संस्कृतज्ञ पाठकोंके लिये दोनों गृह्यसूत्रोंके मूल पाठ पूरे नीचे दिये जाते हैं :—

पारस्करगृह्यसूत्र १.३

षडर्घ्या भवन्त्याचार्य ऋत्विग्वैवाह्यो राजा प्रियः स्नातक इति ।।१।। प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुः ।।२।। यक्ष्यमाणास्त्वृत्विजः ।।३।। आसनमाहार्याह साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तमिति ।।४।। आहरन्ति विष्टरं पाद्यं पादार्थमुदकमर्घमाचमनीयं मधुपर्कं दधिमधुघृतमपिहितं कांस्ये कांस्येन ।।५।। अन्यस्त्रिस्त्रिः प्राह विष्ट-

आश्वलायनगृह्यसूत्र १.२४

ऋत्विजो वृत्वा मधुपर्कमाहरेत् ।।१।। स्नातकायोपस्थिताय ।।२।। राज्ञे च ।।३।। आचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानां च ।।४।। दधनि मध्वानीय ।।५।। सर्पिर्वा मध्वलाभे ।।६।। विष्टरः पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्को गौरित्येतेषां त्रिस्त्रिरेकैकं वेदयन्ते ।।७।। अहं वर्ष्म सजातानां विद्युतामिव सूर्यः । इदं तमधितिष्ठामि यो मा कश्चा-

(पारस्करगृह्यसूत्र १.३—चालू)

रादीनि ॥६॥ विष्टरं प्रतिगृह्णाति ॥७॥ वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः। इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासतीत्येनमभ्युपविशति ॥८॥ पादयोरन्यं विष्टर आसीनाय ॥९॥ सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति ॥१०॥ ब्राह्मणश्चेद्दक्षिणं प्रथमम् ॥११॥ विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोह इति ॥१२॥ अर्घं प्रतिगृह्णात्यापः स्थ युष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानीति ॥१३॥ निनयन्नभिमन्त्रयते, समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत। अरिष्टा अस्माकं वीरा मा परासेचिमत्पय इति ॥१४॥ आचामत्यामागन्यशसा संसृज वर्चसा। तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनामिति ॥१५॥ मित्रस्य त्वेति मधुपर्कं प्रतीक्षते ॥१६॥ देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णाति ॥१७॥ सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणस्यानामिकया त्रिः प्रयौति नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामीति ॥१८॥ अनामिकाङ्गुष्ठेन च त्रिर्निरुक्षयति ॥१९॥ तस्य त्रिः प्राश्नाति यन्मधुनो मधव्यं परमं रूपमन्नाद्यम्। तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादो ऽसानीति ॥२०॥ मधुमतीभिर्वा प्रत्यृचम् ॥२१॥ पुत्रायान्तेवासिने वोत्तरत आसीनायोच्छिष्टं दद्यात् ॥२२॥ सर्वं वा प्राश्नीयात् ॥२३॥ प्राग्वाऽसञ्चरे निनयेत् ॥२४॥ आचम्य प्राणान्त्संमृशति वाङ्म आस्ये नसोः प्राणोऽक्ष्णोश्चक्षुः कर्णयोः

(आश्वलायनगृह्यसूत्र १.२४—चालू)

भिदासतीत्युदगग्रे विष्टर उपविशेदाक्रम्य वा ॥८॥ पादौ प्रक्षालयीत दक्षिणमग्रे ब्राह्मणाय प्रयच्छेत् ॥९॥ सव्यं शूद्राय ॥१०॥ प्रक्षालितपादोऽर्घ्यमञ्जलिना प्रतिगृह्य ॥११॥ अथाऽऽचमनीयेनाऽऽचामति—अमृतोपस्तरणमसीति ॥१२॥ मधुपर्कमाह्रियमाणमीक्षेत मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्ष इति ॥१३॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीति तदञ्जलिना प्रतिगृह्य सव्ये पाणौ कृत्वा मधुवाता ऋतायत इति तृचेनावेक्ष्यानामिकया चाङ्गुष्ठेन च त्रिः प्रदक्षिणमालोड्य वसवस्त्वा गायत्रेण च्छन्दसा भक्षयन्त्विति पुरस्तान्निमार्ष्टि ॥१४॥ रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्त्विति दक्षिणत आदित्यास्त्वा जागतेन च्छन्दसा भक्षयन्त्विति पश्चाद् विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्त्वित्युत्तरतो भूतेभ्यस्त्वेति मध्यात् त्रिरुद्गृह्य ॥१५॥ विराजो दोहोऽसीति प्रथमं प्राश्नीयाद् विराजो दोहमशीयेति द्वितीयं मयि दोहः पद्यायै विराज इति तृतीयम् ॥१६॥ न सर्वम् ॥१७॥ न तृप्तिं गच्छेत् ॥१८॥ ब्राह्मणायोदङ्ङुच्छिष्टं प्रयच्छेदलाभेऽप्सु ॥१९॥ सर्वं वा ॥२०॥ अथाऽऽचमनीयेनान्वाचामत्यमृतापिधानमसीति ॥२१॥ सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतामिति द्वितीयम् ॥२२॥ आचान्तोदकाय गां वेदयन्ते ॥२३॥ हतो मे पाप्मा पाप्मा मे हत इति जपित्वों कुरुतेति कारयिष्यन् ॥२४॥ माता रुद्राणां

मधुपर्क विधिमें गोमांस असम्भव है ।

(पारस्करगृह्यसूत्र १.३—चालू)

श्रोत्रं बाह्वोर्बलमूर्वोरोजोऽरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सहेति ।।२५।। आचान्तोदकाय शासमादाय गौरिति त्रिः प्राह ।।२६।। प्रत्याह । माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः । प्र नु वोचञ्चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट । मम चामुष्य च पाप्मानं हनोमीति यद्यालभेत ।।२७।। अथ यद्युत्सिसृक्षेन्मम चामुष्य च पाप्मा हत ओमुत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयात् ।।२८।। न त्वेवामांसोऽर्घः स्यात् ।।२९।। अधियज्ञमधिविवाहं कुरुतेत्येव ब्रूयात् ।।३०।। यद्यप्यसकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेत कृतार्घ्या एवैनं याजयेयुर्नाकृतार्घ्या इति श्रुतेः ।।३१।।

(आश्वलायनगृह्यसूत्र १.२४—चालू)

दुहिता वसूनामिति जपित्वोमुत्सृजतेत्युत्त्रक्ष्यन् ।।२५।। नामांसो मधुपर्को भवति भवति ।।२६।।

इन सूत्रोंमें वर्णित विधिका क्रम इस प्रकार है :—

१. आसन समर्पण और ग्रहण
२. पाद्य समर्पण (चरण-प्रक्षालन)
३. अर्घ्य-समर्पण और ग्रहण
४. आचमनीय-समर्पण और ग्रहण
५. मधुपर्क ग्रहण करना, अंगुष्ठ और अनामिका अंगुलियों द्वारा मिलाना, उन्हीं अंगुलियोंसे चारों दिशाओंमें मधुपर्क छिड़कना, मधुपर्कके मध्यभागसे उन्हीं अंगुलियोंसे तीन बार मधुपर्क खाना, अवशिष्ट छोड़ देना ।
६. आचमन करके मुख-शुद्धि करना ।

यहाँ तककी विधि थोड़े अन्तरसे आश्वलायन और पारस्कर दोनों गृह्यसूत्रोंमें एक-सी है । इसमें कोई विशेष मतभेदकी बात नहीं है । इसके बादकी मान्यतामें मतभेद है जिसका विवेचन आश्वलायन एवं पारस्कर दोनों गृह्यसूत्रोंके अनुसार आगेके अलग-अलग प्रकरणमें दिया जायगा । यहाँ इतना ही बता देना यथेष्ट है कि न तो मधुपर्ककी वस्तुओंमें कहीं मांसका उल्लेख

है और न मधुपर्क ग्रहण कर लेनेके पश्चात् आचमन कराके मुख-शुद्धि करा-कर मधुपर्ककी विधि पूरी करा दी गयी वहाँ तक माँसका कोई उल्लेख है। अतिथिके पहुँचनेके बाद मधुपर्क द्वारा सम्मान-पूजाकी विधिमें सब क्रियाएँ एकके बाद दूसरी, क्रमसे लगातार होती रहती हैं। उसमें कोई लम्बे समय-की प्रतीक्षा नहीं होती। अतः उसमें ऐसी सम्भावना भी नहीं लगती कि उसी समय गायको मारकर उसका मांस निकालकर, पकाकर, मधुपर्कमें मिलाकर अतिथिको दिया जाय। तुरन्त गायको मारकर मांस निकालकर पकानेमें पर्याप्त समय लगता है। उतने समयके लिये सम्माननीय अतिथिको प्रतीक्षा कराना सम्भव नहीं हो सकता। आश्वलायनके अनुयायी तो सम्माननीय अतिथिको मधुके लिये भी प्रतीक्षा नहीं कराते, मधुके अभावमें घृतको स्वीकार कर लेते हैं।

इसके अतिरिक्त एक अतिथि एक गायका सम्पूर्ण मांस खा भी नहीं सकता। मधुपर्ककी जितनी मात्रा होती है उसमें यदि मांस मिलाया भी जाय तो एक या दो तोला मांस ही मिल सकता है। इतनेसे मांसके लिये गायकी हत्या कराना कैसे अभीष्ट हो सकता है ? अतः मधुपर्क विधि पूरी हो जानेके बाद, आचमन द्वारा अतिथिकी मुख शुद्धि करा देनेके पश्चात् गायका लाना या तो दानके लिये ही हो सकता है अथवा अतिथिको धारोष्ण दूध पिलानेके लिये हो सकता है, जिसके लिये अतिथिको प्रतीक्षा नहीं करानी पड़ती।

मधुपर्क में गोदान-गोसमर्पण

मधुपर्कमें गोदानका विधान कहीं-कहींपर शास्त्रोंमें देखनेमें आता है।

१. अरुणस्मति, अध्याय १ (मनसुखराय मोर, नं०-५, क्लाइव रो, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित)—

> यज्ञकर्मणि या धेनुर्या धेनुर्धर्मकर्मणि ॥११६॥
> प्रायश्चित्तनिमित्ते वा होमार्थं दुर्बलाय वा।
> मधुपर्के च या धेनुः या धेनुः कर्मसिद्धये ॥११७॥
> एताः सर्वा द्विजो विद्वान् प्रतिगृह्य यतस्ततः।
> न स पापेन लिप्येत पद्मपत्रमिवांभसा ॥११८॥

अर्थात्—यज्ञकर्ममें, धर्मकर्ममें, प्रायश्चित्तके निमित्त, होमके लिये, दुर्बलता दूर करनेको, मधुपर्क विधिमें, कर्मसिद्धिके अनुष्ठानमें—इन

मधुपर्कमें गोदान

सब कार्योंमें दान दी हुई गायको विद्वान् द्विज ग्रहण करता है तो वह पापसे लिपायमान नहीं होता, जैसे कमलके पत्तेपर जलका असर नहीं होता।

२. मनुस्मृति ३.३—

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥

(स्वधर्मेण) अपने ब्रह्मचर्य-आश्रमके धर्म-पालनसे (प्रतीतं) ख्याति-प्राप्त हुए, (पितुः) जन्मदाता या गुरुरूप पितासे (ब्रह्मदायहरं) पवित्र ब्रह्मविद्या—वेदोंका ज्ञान प्राप्त किये हुए, (स्रग्विणं) पुष्पहारसे सुसज्जित, (तल्प आसीनं) उच्चासनपर विराजमान (तं) उस स्नातकको (प्रथमं) सर्वप्रथम (गवा) गाय समर्पण द्वारा (अर्हयेत्) सम्मानित करे।

विद्याध्ययन करके आये हुए स्नातकका मनुस्मृति ३.११९-१२० के अनुसार मधुपर्क द्वारा सम्मान करनेका विधान है और उसमें स्नातकको गाय-समर्पणका विधान मनुस्मृति ३.३ में बताया है और उसके पश्चात्के श्लोकोंमें शुभ लक्षणों वाली कन्याके साथ विवाह करनेकी अनुमति दी गयी है। इससे स्पष्ट है कि स्नातक ब्रह्मचारीके प्रति सर्वप्रथम गौ-समर्पणके साथ मधुपर्क द्वारा स्वागतका विधान है। सम्भवतः यह इसलिये है कि ब्रह्मचर्य-आश्रमके कठोर नियमोंका पालन करते हुए विद्याध्ययनके परिश्रमसे कृशगात्र हुए ब्रह्मचारीको विवाहके पूर्व गोदुग्ध-पान द्वारा अपना शरीर बलिष्ठ कर लेना चाहिये जिससे गृहस्थ-धर्मके निर्वाहमें सरलता रहे।

३. आपस्तम्बीय धर्मसूत्र २.४.८ के निम्न वाक्य भी गोसमर्पण या गोदानवाचक ही हैं—

१. गोमधुपर्कार्हो वेदाध्यायः—अर्थात् वेदाध्यायी गाय और मधुपर्क ग्रहण करनेके योग्य है ॥५॥

२. आचार्यायर्त्विजे श्वशुराय राज्ञ इति परिसंवत्सरादुपतिष्ठद्भ्यो गौर्मधुपर्कश्च—अर्थात् आचार्य, ऋत्विज्, श्वशुर, राजा—ये प्रति-संवत्सर अर्थात् वर्षमें एक वार आवें तब इनको गौ और मधुपर्क अर्पण करे।

इन सूत्रोंके बाद ही मधुपर्ककी वस्तुओंका वर्णन आता है—दधि मधुसंसृष्टं मधुपर्कः पयो वा मधुसंसृष्टम् । अभावे उदकम् ॥ यदि गौका भाव गायके मांससे होता तो मधुपर्ककी वस्तुओंके वर्णनमें मांसका नाम भी आता। अतः इन सूत्रोंमें भी गायके समर्पणका भाव ही अभीष्ट है।

आश्वलायनगृह्यसूत्र

पाण्डुरंग वामन काणे महोदयने अपनी अंग्रेजीकी पुस्तक धर्मशास्त्रका इतिहास, खण्ड २, भाग १, अध्याय १०, पृष्ठ ५४३-५४५ में मधुपर्ककी विधि आश्वलायगृह्यसूत्र, अध्याय १, कण्डिका २४ में वर्णित बतायी है—यह ठीक है। यहाँपर मधुपर्ककी वस्तुओंके उल्लेखमें दधि और मधुका मिश्रण बताया है और मधुके अभावमें घृतका मिश्रण, जिसका पहले भी वर्णन आ चुका है। आगेकी विधि जो वर्णन की गयी है और उसका जो अर्थ लगाया है उसमें कोई मतभेद नहीं है। मधुपर्क ग्रहण करलेनेके पश्चात् आचमन कर लेनेके वादकी विधिमें पाण्डुरंग वामन काणे महोदय पृष्ठ ५४५ पर पंक्ति ३ से ८ तक लिखते हैं—

> "When he has sipped water, they announce to him the cow. Having muttered the words destroyed is my sin, my sin is destroyed', he says 'Om, do it', if he desires to have the cow killed; if he is desirous of letting her go, he mutters the verse (Rig. VIII, 101, 15) the mother of Rudras and daughter of Vasus and says, let her go ?"

मूल सूत्र इस प्रकार है—

आचान्तोदकाय गां वेदयन्ते ॥२३॥
हतो मे पाप्मा पाप्मा मे हत इति जपित्वों कुरुतेति कारयिष्यन् ॥२४॥

इसका सीधा-सादा अन्वय-अर्थ इस प्रकार बनता है—

आचान्तोदकाय (जलसे आचमन करनेके उपरान्त) **गां वेदयन्ते** (गाय निवेदन की जाती है)। **मे** (मेरा) **पाप्मा** (पाप) **हत**(समाप्त हुआ), **मे** (मेरा) **पाप्मा** (पाप) **हत** (समाप्त हो गया)—**इति** (यह) **जपित्वा** (जपकर कहकर—उच्चारण करके) **ॐ** (ओं उच्चारण करके) **कुरुत** (करो) **इति** (यह कहता है) **कारयिष्यन्** (यदि करवाना चाहता है)।

आश्वलायनगृह्यसूत्र

श्रीजीवानन्द विद्यासागर, नं०-२, रमानाथ मजूमदार स्ट्रीट, कलकत्ता द्वारा ईस्वी सन् १८९३में प्रकाशित गार्गनारायणीय वृत्ति सहित आश्वलायन गृह्यसूत्रके सूचीपत्रमें इस २४वें सूत्रका शीर्षक दिया है—**आचान्तोदकाय गोदानम्**—जिसका अर्थ है **आचमनके उपरान्त गोदान** जिसको 'they announce to him the cow' शब्दोंसे पाण्डुरंग वामन काणे महोदयने व्यक्त किया है।

२४वें सूत्रके 'कारयिष्यन्' शब्दका अर्थ पाण्डुरंग वामन काणे महोदयने 'do it' अर्थात् 'कर्त्तव्य कर्म करें' ठीक किया है, परन्तु बादमें 'if he desires to have it killed' अर्थात् 'यदि वह उसके वधकी इच्छा रखता हो'—कहाँसे ला घुसेड़ा—यह समझमें नहीं आता। जब मधुपर्क ग्रहण हो चुका, आचमन करके मुख-शुद्धि कर ली गयी और गाय दानके लिये—समर्पणके लिये घोषित कर दी गयीं, तब उत्तर बनता है—'ॐ' उच्चारणपूर्वक कहना—मुझे स्वीकार है, दानकी विधिकी जाय और स्वीकार न हो तो पीछे दिया हुआ सूत्र (ऋग्वेद ८. १०१. १५) उच्चारण करनेका विधान बताया है—**माता रुद्राणां दुहिता वसूनाम्—इति जपित्वो-मुत्सृजतेत्युत्स्रक्ष्यन् ॥२५॥**

> **"He mutters—'the mother of. Rudras and the daughter of Vasus' and says—let her go'."**

अर्थात्—रुद्रोंकी माता, वसुओंकी दुहिताको (अपने स्थानपर) जाने दो, (मैं नहीं ले जाऊंगा)। यह मन्त्र भी यहाँ उपयुक्त नहीं है जिसका विवेचन हम आगे करेंगे। इसमें 'if he desires to have the cow killed' अर्थात् वह गायका वध कराना चाहता हो' मूलसूत्रमें कहीं भी नहीं है और स्वागत-सत्कारकी अर्थात् पाद्य (चरण धोने) की, अर्घ्य (सुगन्धित जल अर्पण) की, मधुपर्क अर्पण और ग्रहणकी, उसके उपरान्त आचमन द्वारा मुख-शुद्धि करानेकी विधि पूरी होनेके बाद गौ-समर्पणकी बात* तो समझ में आती है, वधकी बातकी तो कल्पना भी कठिन है।

इसके पश्चात् पाण्डुरंग वामन काणे महोदय पृष्ठ ५४५, पंक्ति ८-९ में लिखते हैं—Let the Madhuparka not be without flesh' जो

---

* 'मधुपर्कमें गोदान—गोसमर्पण' शीर्षकके अन्तर्गत मधुपर्कमें गोदानका शास्त्रीय विधान देखिये।

आश्वलायन-गृह्यसूत्रको प्रथम अध्यायकी २४वीं कण्डिकाका अन्तिम सूत्र **'नामांसो मधुपर्को भवति भवति'** ॥२६॥ अर्थात् 'मांसविहीन मधुपर्क होता ही नहीं' का अर्थ लगता है। वर्तमान मुद्रित ग्रन्थोंमें यह सूत्र देखनेमें जरूर आता है जिसका सीधा-सादा अर्थ यही है कि मधुपर्क अमांस—मांसविहीन नहीं होता, लेकिन यह विषय सम्बद्ध नहीं है। मधुपर्ककी विधिमें मधुपर्ककी वस्तुओंके उल्लेखमें दधि और मधु या दधि और घृत बताया है, मांसकी गन्ध भी नहीं है। मधुपर्ककी विधि पूर्ण हो जानेपर अर्थात् मधुपर्क ग्रहण करके आचमन कर लेनेके बाद अतिथिकी गायके वध करानेकी इच्छा हो तो 'ॐ' उच्चारण करके कहे कि 'इसका वध करो' और 'मांसके विहीन मधुपर्क नहीं होता'—यह बात क्रमके हिसाबसे भी नहीं बैठती और सिद्धान्तसे भी ठीक नहीं बैठती। यदि मधुपर्कमें मांस आवश्यकीय होता तो जहाँ मधुपर्ककी वस्तुओंका वर्णन है वहां मांसका उल्लेख होता और मधुपर्क अर्पण तथा ग्रहणके पूर्व गायके समर्पणकी घोषणा होती और अतिथिकी वासना मांसयुक्त मधुपर्क लेनेकी होती तो मधुपर्क ग्रहण करनेके पूर्व 'ॐ' उच्चारण करके 'do it' (इसका वध) करो' कहता, उसके बाद मधुपर्क तैयार होता, अर्पण किया जाता, ग्रहण किया जाता और फिर आचमन करके मुखशुद्धि होती। अतः यह निश्चय है कि गायके समर्पणकी घोषणा दानके लिये ही है, और अतिथि गायको न ले जाना चाहे तो वह कह सकता है कि 'Let her go'—इसको अपने स्थानपर जाने दो, मैं नहीं ले जाऊंगा। और मधुपर्कमें मांसकी कल्पना भी नहीं हो सकती, द्वारपर आये अतिथिके सत्कारकी विधिमें इतने समय की गुंजाइश ही नहीं होती कि गोवध करके उसका मांस निकाला जाय और पकाया जाय। अतः 'मधुपर्क मांसविहीन नहीं होता' यह कल्पना नितान्त अनुचित लगती है। पाण्डुरंग वामन काणे जैसे कानूनशास्त्री (M. A., LL. M., Advocate) के यह तर्क ध्यानमें न आवे—यह बात मानी नहीं जा सकती। वे जान-बूझकर किसी और लक्ष्य-सिद्धिके लिये इसकी ओरसे आँख बन्द कर लें और इसको लोगोंसे भी अपनी लक्ष्य-सिद्धिके लिये छिपाये रखनेकी चेष्टा करें—यह बात अलग है।

अब आश्वलायनगृह्यसूत्र, अध्याय १, कण्डिका २४ के २५ वें सूत्रपर विचार किया जाय जो असंगत है और जिसके लिये हमने आगे जाकर विचार करनेका उल्लेख किया है :—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनामिति जपित्वोमुत्सृजतेत्युत्सक्ष्यन् ॥२५॥

इसका अर्थ है—'**माता रुद्राणां दुहिता वसूनाम्**' मन्त्र का उच्चारण करके गायको छोड़ देनेकी या लेने की अनुमति देवें। यह मन्त्र ऋग्वेद ८. १०१.१५ का है जिसका पूरा रूप इस प्रकार है—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥

इसका अन्वय-अर्थ इस प्रकार है—

रुद्राणां माता (शत्रुओंको रुलानेवाले वीर मरुतोंकी माता), **वसूनां दुहिता** (वसुओंकी कन्या), **आदित्यानां स्वसा** (अदितिके पुत्रोंकी बहिन और) **अमृतस्य नाभिः** (अमृत-रसकी केन्द्र गाय है, इसलिये) **चिकितुषे जनाय** (ज्ञानी मनुष्यसे) **प्र वोचं नु** (मैं घोषणा करके कहता हूं कि) **अनागां अ-दितिं गां** (निरपराध तथा अवध्य गायका) **मा वधिष्ट** (वध न करो)। अदितिके यहां दो अर्थ हैं—एक जो ऊपर दिया है और दूसरा अदनात् अदितिः—भक्षण करने योग्य दूध, दही, मक्खन, घी आदिकी उत्पत्ति करानेवाली। दोनों ही अर्थ उपयुक्त और ग्राह्य हैं। **मां गां वधिष्ट** (गाय का वध न कर) यह वेदकी आज्ञा इस मन्त्रमें है। (देखिये पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा सम्पादित गो-ज्ञान-कोश, प्राचीन खण्ड—वैदिक विभाग, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३)।

मधुपर्ककी विधि सम्पूर्ण हो जानेके बाद उपर्युक्त वेद-मन्त्रकी आज्ञाके विरुद्ध यह कल्पना करना कि अतिथि 'ॐ' उच्चारणके साथ do it (kill it) if he (the honoured guest, who has been offered madhuparka and who has completed the Madhuparka ceremony) desires to have the cow killed—अर्थात् वध कार्य सम्पादन करनेकी आज्ञा देवे यदि वह (अतिथि जो मधुपर्क ग्रहण करके, आचमनद्वारा मुख-शुद्धि करके मधुपर्क विधिको पूरी समाप्त कर चुका है) गोवध करवाना चाहता हो। अनुमान किया जाय कि यह कितनी असम्भाव्य कल्पना है और इसके पश्चात् उल्लेख करना कि 'मांस-रहित मधुपर्क नहीं होता' जब कि मधुपर्ककी विधि बिना मांसके समाप्त करायी जा चुकी। (कोष्ठकके शब्द स्पष्ट करनेके लिये हमारी तरफसे जोड़े गये हैं)।

उपर्युक्त तर्कोंके अतिरिक्त एक बात और भी विचारणीय है। मधुपर्क-की विधि समाप्त होनेके बाद अतिथिको उसी समय तुरन्त गाय मारकर

गायका कच्चा माँस खिलाना अभीष्ट है क्या ? यदि गायको उसी वक्त मारकर मांस खिलानेका विधान स्वीकार कर भी लिया जाय तो क्या सम्माननीय अतिथिको पूछा जाता है कि अमुक चीज खायेंगे या नहीं ? जो भी उत्तम चोज हो वह उस सम्माननीय अतिथिके सम्मुख उपस्थित कर दी जाती है, उसको रुचिकर हो तो ग्रहण करे और न रुचिकर हो तो छोड़ दे।

एक बात और। आजकलके जमानेमें भी माँस खानेवाले लोग जिस जीवका मांस खाते हैं उसकी हिंसा जैसा जघन्य कार्य अपने सामने नहीं होने देते, परोक्षमें ही जहां वे देख न सकें, ऐसी जगह हिंसा होकर मांस खाने वाले सभ्यसमाजके लोगोंके लिये मांस आता है। फिर वनोंमें रहने वाले ऋषि-महर्षियोंके सम्बन्धमें इसके विपरीत बातकी कल्पना कैसे सम्भव हो सकती है।

अतः आश्वलायनगृह्यसूत्र १.२४.२६ "नामांसो मधुपर्को भवति" का अर्थ यह किया जाय कि "पशु-शरीरके मांस रहित मधुपर्क नहीं होता" तो यह विषयके विरुद्ध एवं असम्बद्ध होनेसे इस अर्थमें संगत हो ही नहीं सकता। ऐसी हालतमें इसको प्रक्षिप्त जैसा ही मानना होगा। कोई-कोई विद्वान् इस सूत्रके अर्थ अन्य रूपमें भी करते हैं जिनको नीचे दिया जा रहा है :—

१ "**नामांसो मधुपर्को भवति**" में "**नामांसो**" शब्द का सन्धि-विच्छेद ना आमांसो" भी होता है। इस प्रकार सन्धि-विच्छेद करने पर "आमांसो" "में" 'आ' का प्रयोग अमरकोष ३.३.२३६ के अनुसार निम्न अर्थोंमें हो सकता है—

आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थे धातुयोगजे (अमरकोश ३.३.२३६)

इसका पदच्छेद—**आङ् ईषत् अर्थे अभिव्याप्तौ सीमा-अर्थे धातुयोगजे।** अर्थात्—'आ' का प्रयोग 'थोड़ा' अर्थमें, 'अभिव्याप्त (व्यापकहोना)' अर्थमें, 'सीमा' अर्थमें और 'धातुयोग' में होता है। 'नामांसो मधुपर्को भवति' में 'आमांसो' का अर्थ 'मांससे व्याप्त' होगा और उसका तात्पर्य 'मांस सहित' ही बनता है। पूरे सूत्रका अर्थ होगा—'मधुपर्को आमांसो न भवति'—मधुपर्क आमांसो (मांससे व्याप्त—मांससहित) नहीं होता, अर्थात् 'मधुपर्क मांस रहित होता है।

(२) श्रीदीनानाथजी शास्त्रीने अपने ग्रन्थ 'सनातनधर्मालोक' छठे सुमनके पृष्ठ ३३७-३३८ पर मधुपर्कसे सम्बन्धित "मांस" शब्दका भाव इस प्रकार बताया है—

> "उक्त मधुपर्ककी बस्तुएँ माँसल (स्निग्ध) हों, पुष्टिकारक हों, निःसार न हों। "मांस' में 'अर्श आदिभ्योऽच्" (अष्टाध्यायी ५.२.१२७) सूत्रमें मत्वर्थीय "अच्" प्रत्यय लगा हुआ है जिसका 'मांसल" अर्थ में पर्यवसान हो जाता है।"

यह अर्थ प्रसंग के अनुसार संगत लगता है। व्यवहारमें इसका भाव यह है कि मधुपर्क में दिये जाने वाले दूध-दहीमें-से मक्खन या क्रीम निकाला हुआ नहीं होना चाहिये। मक्खन, क्रीम या मलाई रहित दूध या दही न तो स्निग्ध होगा, न अच्छा स्वादिष्ट, तथा न अच्छा पुष्टिकारक, बल्कि निस्सार होगा। सम्माननीय अतिथिके लिये तो अच्छी वस्तुका ही प्रयोग करना चाहिये, सारहीन वस्तुका नहीं।

(३) पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्रीने अपनी मासिक-पत्रिका 'लोकालोक' के 'शङ्का-समाधानाङ्क' (प्रकाशक-माधव पुस्तकालय, धर्मधाम, कमला नगर, दिल्ली-७) में पृष्ठ ३९ पर मधुपर्कसे सम्बन्धित 'मांस' शब्दको फलोंका गूदा, बादाम आदि सूखे मेवोंकी गिरियाँ, धारोष्ण दूध या दूधके सारभूत पदार्थ रबड़ी-खोवा-सिखरन आदिका वाच्य बताया है। यह अर्थ सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं होनेसे असंगत नहीं है। यदि असंगति है तो इतनी ही है कि मधुपर्ककी वस्तुओंमें फल या मेवा आदिका कहीं उल्लेख नहीं है, किन्तु दूध और दहीका उल्लेख अवश्य है, एवं सम्माननीय अतिथिकी यात्राकी थकावट दूर करनेको गायका धारोष्ण दूध भी अभीष्ट है।

इन सब विवेचनोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मधुपर्कमें पशु-शरीरके मांसकी कल्पना तकके लिये भी कोई स्थान नहीं है।

पारस्करगृह्यसूत्र

पूर्वोक्त वर्णित विधिके क्रममें मधुपर्क ग्रहण कर लेनेके पश्चात् आचमन करके मुख-शुद्धि करने उपरान्त गौका प्रसंग आता है। मधुपर्क ग्रहण कर लेनेके बाद गौका प्रसंग इस बातका स्पष्ट द्योतक है कि मधुपर्कमें गोमांसकी कोई सम्भावना नहीं है।

अंग्रेजीकी पुस्तक 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया' खण्ड १, अध्याय १०, लेखक : ई० डब्ल्यू० होपकिन्स, पृष्ठ २०८ (द्वितीय संस्करण, १९६२, प्रकाशक—एस. चांद, दिल्ली) में E. W. Hopkins महोदय मधुपर्कके सम्बन्धमें लिखते हैं—

"But it is an old rite of hospitality to kill a cow for a guest and as a matter of form, each honoured guest is actually offered a cow."

अर्थात्—अतिथिके लिये गायकी हत्या करना आतिथ्यकी प्राचीन प्रथा है, और इस प्रथाके अनुसार प्रत्येक सम्माननीय अतिथिको वास्तवमें गाय दी जाती है।

इसके बाद E. W. Hopkins लिखते हैं—

"The host says to the guest, holding the knife ready to slay the cow that he has the cow for him but the guest is directed to say—'Mother of Rudras, daughter of Vasus, sister of Adityas, Navel of immortality (is she), Do not kill the guiltless cow; she is (earth itself), Aditi the goddess.' I speak to them that understand. He adds, 'My sin has been killed and that of so and so, let her go and eat grass'. But if he really wants to have her eaten, he says, 'I kill my sin and the sin of so and so, (in killing her)', and though in many cases, the offer of the cow is thus plainly a formal piece of etiquette, yet the offering to the guest was not complete without flesh of some sort; and it is clear from the formulas, any of the worthiest guests might demand cow's death."

अर्थात्—गायको कत्ल करनेके लिये छुरी हाथों में लिये हुए यजमान अतिथिको कहता है कि यह गाय उस अतिथिके लिये है। लेकिन अतिथिसे यह कहलाया जाता है—रुद्रोंकी माता, वसुओंकी पुत्री, आदित्योंकी वहिन, अमृतरसकी केन्द्र है, निरपराध गायको मारो मत, यह स्वयं पृथिवी अदिति देवी है। वह अतिथि और भी कहता है—"मैं तो उनसे कहता हूँ जो समझदार हैं, मेरे और अमुक व्यक्तिके पाप नष्ट हुए, इस गायको घास चरने जाने दो।" यदि अतिथि गायको (मरवाकर) खाना चाहे तो वह कहता है—(इस गायके नाशके साथ-

साथ) मैं अपने और अमुकके पाप नष्ट करता हूँ। गौ-समर्पणकी बात आजकल प्रतिष्ठा मात्रकी प्रथा रह गयी है, तो भी अतिथिको मधुपर्कका सत्कार-समर्पण किसी-न-किसी प्रकारके मांसके बिना सम्पूर्ण नहीं होता। वह कथित मन्त्रों (formula) से भी स्पष्ट है कि सम्मानीय अतिथि गोहत्याकी माँग कर सकता है।

इस प्रकारका कथन पारस्करगृह्यसूत्र १.३.२६ सूत्रके आधारपर ही लगता है, जहाँ पाठ इस प्रकार है—

आचान्तोदकाय शासमादाय गौरिति त्रिः प्राह ॥

इसका अर्थ है (अतिथिके द्वारा) आचमनीय जल ग्रहण कर लेनेके बाद यजमान शासं लेकर तीन बार कहता है—यह गौ (आपके लिये है—यह गौ (आपके लिये) है। मूल पाठमें कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिसका अर्थ कत्ल करनेका या हत्या करनेका हो। '**शासं आदाय**' शब्दोंका W. Hopkins महोदयसे holding the knife ready to slay the cow'—अर्थात् गायकी कतलके लिये छुरी हाथमें पकड़े हुए—अर्थ किया लगता है। 'शासं' का अर्थ ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्यसंहिता, अध्याय ८, श्लोक २१२ (स्मृति-सन्दर्भ, चतुर्थ भागके अन्तर्गत, प्रकाशक—मनसुख राय मोर, नं०-५, क्लाइव रो, कलकत्ता, प्रथम संस्करण) में ऐसा दिया है—**आचान्तः शासमादाय शासं शासनमुच्यते**—आचमनके पश्चात् शासं पकड़नेका भाव शासंसे शासन करना कहा गया है।

'शासं' शब्दका अर्थ किसी वस्तुके प्रयोगसे नियन्त्रणमें रखनेका है। यहाँपर नये आये हुए अतिथिके लिये गाय लायी जाती है, जो केवल दानके लिये हो सकती है ('मधुपर्कमें गोदान-गोसमर्पण' शीर्षक देखिए)। गायका ऐसा स्वभाव होता है कि अपने पुराने पालकको छोड़कर नये पालकके यहाँ आसानीसे नहीं जाती। आजकल भी देखा जाता है कि कोई गाय नयी जगह भेज दी गयी हो तो दिनके अन्तमें वनसे चरकर लौटते समय वह अपने पुराने पालकके स्थानपर लौट आती है और थोड़ी चेष्टा करनेके बाद ही नये पालकसे हिल-मिल जाती है। इस चेष्टामें छड़ी या डण्डे द्वारा शासनके भयका भी कभी-कभी उपयोग करना पड़ सकता है। ऐसे ही नये अतिथिके साथ गाय

जानेमें आपत्ति न करे, इसलिये उनको शासनमें—नियन्त्रणमें रखनेके लिये छड़ी या डण्डा पकड़कर रखनेकी बात कही गयी है, न कि उसको कत्ल करनेके लिये छुरी पकड़नेकी। मूल पाठमें कहीं कत्ल करनेकी या मार डालनेकी गन्ध भी नहीं है। तब E. W. Hopkins महोदय इसके अर्थ में कत्ल करनेके उद्देश्यसे छुरी हाथमें पकड़े हुए कहाँसे ले आये, कुछ समझमें नहीं आता।

मोनियर-विलियम्स संस्कृत-अंग्रेजी कोषमें भी 'शास्' धातुके अर्थ इस प्रकार दिये हैं :—

to chastise; to correct; to censure; to punish;
to restrain; to control; to rule; to govern;
to administer the law; to direct; to bid;
to order; to command; to teach, etc. etc.

'शास्' धातुकी संज्ञा द्वितीया एक वचन 'शासं' होता है, जिसका अर्थ 'शासन करनेकी वस्तुको' होता है। जिसको शासनने मृत्यु-दण्ड दिया हो उसके लिये 'शासं' शब्दका अर्थ 'छुरा' या 'तलवार' भी हो सकते हैं। किन्तु यहाँ 'छुरा' या 'तलवार' अर्थ समीचीन नहीं हो सकता।

पारस्करगृह्यसूत्र १.३.२६ के आगेके **"प्रत्याह माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्र नु वोचञ्चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट। मम चामुष्य च पाप्मानं हनोमीति यद्यालभेत ॥२७॥ अथ यद्युत्सिसृक्षेन्मम चामुष्य च पाप्मा हत ॐ उत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयात् ॥२८॥ न त्वेवामांसोऽर्घः स्यात् ॥२९॥"** वचनों का तात्पर्य प्रायः वही है जो आश्वलायनगृह्यसूत्र १.२४ के **"हतो मे पाप्मा पाप्मा मे हत इति जपित्वोंकुरुतेति कारयिष्यन् ॥२४॥ माता रुद्राणां दुहिता वसूनामिति जपित्वोमुत्सृजतेत्युत्स्रक्ष्यन् ॥२५॥ नामांसो मधुपर्को भवति भवति ॥२६॥"** वचनोंका है जिसकी आलोचना 'आश्वलायनगृह्यसूत्र' शीर्षकके अन्तर्गत देखिये। केवल २८वें सूत्रमें थोड़ी भिन्नता है जिसका सीधा-सीधा अर्थ पाठकको जानकारी के लिये दिया जाता है, जिसमें घास चरनेको छोड़नेकी बात भी गायका समर्पण—गोदानकी बातको पुष्ट करता है।

२८वें सूत्रका अर्थ इस प्रकार है—

> **अथ यदि** (यदि) **उत्सिसृक्षेत्** (छोड़ना चाहे) **मम च** (मेरा) **अमुष्य च** (इस अतिथेयका) **पाप्मा** (पाप) **हतः** (समाप्त हो गया) **ओम् उत्सृजत** (छोड़ दो) **तृणानि** (घास) **अत्तु** (खाए) **इति** (यह) **ब्रूयात्** (बोले) ॥

पारस्करगृह्यसूत्रके २९वें सूत्र **"नत्वेवामांसोऽर्घ्यः स्यात्"** का अर्थ भी **"नामांसो मधुपर्को भवति"** की तरह दो प्रकारका है—

(१) **न तु एव अमांसो अर्घ्यः स्यात्**

(२) **न तु एव आमांसो अर्घ्यः स्यात्**

पहलेका भाव है—अर्घ्य (मधुपर्क) अमांसः (मांसरहित) निश्चयपूर्वक नहीं होता। दूसरे अर्थका भाव है—अर्घ्य (मधुपर्क) आमांसः (मांससहित) निश्चयपूर्वक नहीं होता। इन दोनों अर्थोंकी संगति तथा असंगतिका विवेचन तथा "मांस" का अर्थ गूदेदार फलका विवेचन आश्वलायनगृह्यसूत्रके अन्तर्गत हो चुका है।

वसिष्ठधर्मसूत्र और शांखायनगृह्यसूत्र

पाण्डुरंग वामन काणे अपने अंग्रेजीके ग्रंथ धर्मशास्त्रका इतिहास, खण्ड २, भाग २, अध्याय २२, 'भोजन—मांसाहार' प्रकरणमें पृष्ठ ७७८, पंक्ति २२-२४ में लिखते हैं—

> **"Manu (V. 27-44) at first contains a permission to kill animals only in Madhuparka, in sacrifice (Yajna) and in rites for gods and manes and on no other occasion. This is same as Vashishtha VI. 6 Vishnudharma-Sutra 51.64, Shankhyayana-Grihya-Sutra II.16.1, (Sankhayana-griha-sutra reads सोमे for यज्ञे)."**

अर्थात्—मनुने (५.२७-४४) आरम्भमें मधुपर्क, यज्ञ और देवों एवं पितरोंके कार्योंके अवसरपर जीवहिंसाकी आज्ञा दी है और किसी भी अवसर पर नहीं। ऐसी ही बात वशिष्ठधर्मसूत्र ४.६, विष्णुधर्मसूत्र ५१.६४, सांख्यायनगृह्यसूत्र २.१६.१ में बतायी है। (सांख्यायनगृह्यसूत्रमें यज्ञके स्थानपर सोम शब्द प्रयोग हुआ है)।

वर्तमान उपलब्ध मनुस्मृतिमें केवल ५.४१ में मधुपर्कमें मांस का उल्लेख आता है, जिसका विवेचन 'मनुस्मृति' शीर्षकके अन्तर्गत देखिये। ठीक यही पाठ आजकल प्राप्त वशिष्ठधर्मसूत्र (वसिष्ठधर्मशास्त्र या वसिष्ठस्मृति) ४.६ में तथा सांख्यायनगृह्यसूत्र २.१६.१ में है—

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव च पशुं हिंस्यान्नान्यथेत्यब्रवीन्मनुः॥

वसिष्ठधर्मसूत्र या सांख्यायनगृह्यसूत्रका यह स्वतन्त्र आदेश नहीं है कि मधुपर्कमें, यज्ञमें पितृकर्ममें और देवकर्ममें पशु-हिंसाकी जा सकती है, अन्यत्र नहीं; मनुने ऐसा कहा है—यह उल्लेख है।

उपर्युक्त पाठका श्लोक मनुस्मृति (५.४१) का हो नहीं सकता, जो 'मनुस्मृति' शीर्षकके अन्तर्गत दिये गये तर्कसे सिद्ध हो जाता है, एवं वैसा स्वतन्त्र विधान मनुस्मृतिमें और कहीं है नहीं; अतः यह भी सिद्ध हो जाता है कि वशिष्ठधर्मसूत्रका या पाण्डुरंग वामन काणे महोदय द्वारा उद्धृत सांख्यायनगृह्यसूत्र या अन्य धर्मग्रन्थोंका वैसे ही पाठका विधान वास्तविक नहीं है, कल्पित और मिथ्या है, विशेष करके मनुस्मृतिमें जब वैसा स्वतंत्र रूपसे दिया हुआ विधान कहीं भी और नहीं मिलता।

वसिष्ठधर्मसूत्र, अध्याय ४ में उपर्युक्त छठे श्लोकके अतिरिक्त सातवाँ श्लोक इस प्रकार है—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वार्थस्तस्माद्यागे वधोवधः॥

यह श्लोक मनुस्मृति ५.४८ से मिलता हुआ है, केवल अन्तिम चरणमें पाठभेद है। यहाँ **'तस्माद्यागे वधोवधः'** है जिसका अर्थ है 'यज्ञकी हिंसा अहिंसा ही मानी जाती है' और मनुस्मृतिका पाठ है **'तस्मान्मांसं विवर्जयेत्'** जिसका अर्थ है—'इसलिये मांस नहीं खाना चाहिये।' मनुस्मृतिके इस श्लोकका पाठ वेद-सम्मत होनेसे ग्राह्य है एवं वशिष्ठधर्मसूत्रका पाठ वेद-विरुद्ध होनेसे अमान्य है।

बौधायनगृह्यसूत्र

पाण्डुरंग वामन काणे महोदय अपने अंग्रेजी भाषाके ग्रन्थ धर्मशास्त्रका इतिहास, खण्ड २, भाग १ अध्याय १० के मधुपर्क प्रकरणमें पृष्ठ ५४५, पंक्ति

३२-३७ में लिखते हैं—

"The Baudhayana-Grihya-Sutra says (I.2.51-54) that when the cow is let off, the flesh, of a goat or ram may be offered or some forest flesh (of a deer etc.) may be offered, as there can be no Madhu-parka without flesh or if one is unable to offer flesh, one may cook ground grain."

अर्थात्—बौधायनगृह्यसूत्र १.२.५१-५४ का कथन है कि यदि गाय छोड़ दी जाय तो वकरे या भेड़का मांस अथवा कोई जंगली मांस जैसे हरिण आदिका दिया जा सकता है, क्योंकि विना मांसके मधुपर्क हो ही नहीं सकता अथवा यदि कोई मांस न दे सकता हो तो पीसा हुआ अन्न ही पकाकर दे देवे।

इन सूत्रोंका मूल पाठ इस प्रकार है—

तस्यामुत्सृष्टायां मेषमजं वाऽऽलभते ॥५१॥
आरण्येन वा मांसेन ॥५२॥
न त्वेवामांसोऽर्घ्यंस्स्यात् ॥५३॥
अशक्तौ पिष्टान्नं संसिद्ध्येत् ॥५४॥

मधुपर्कको वस्तुओंमें वौधायनगृह्यसूत्रके अनुसार मधु, दही, दूध, घृत और जल—ये ही पाँच वस्तुएँ बतायी गयी हैं। पहले इसका विवेचन हो चुका है कि न तो मधुपर्ककी वस्तुओंमें मांसका उल्लेख है, न अतिथि-सत्कारकी विधिमें जो समय लगता है उसमें पशुवध करके मांस देनेकी गुंजाइश है, [वन्य पशु (हिरण आदि) मारकर उनका मांस लानेमें तो और भी अधिक समय लगता है] और न सिद्धान्तके अनुसार मांस वांछनीय है। अतः पशुमांसके बिना मधुपर्क नहीं होता—से सब मिथ्या बातें हैं। यदि मांसके विना मधुपर्क नहीं हो सकता, तो पीसा हुआ अन्न पकाकर देनेका विधान क्यों बताया गया? इससे सिद्ध होता है कि 'मांसके बिना मधुपर्क नहीं हो सकता' यह बात यथार्थ नहीं है।

मानवगृह्यसूत्र

पाण्डुरंग वामन काणे महोदय अपने अंग्रेजीके ग्रन्थ 'धर्मशास्त्रका इतिहास,' खण्ड २, भाग १, अध्याय १० में मधुपर्कके प्रकरणमें पृष्ठ ५४५, पंक्ति २८-३१ में लिखते हैं—

"The Manava-grihya-Sutra I. 9.22 says that the Veda declares

that the Madhuparka must not be without flesh and so it recommends that if the cow is let loose, goat's meat or Payasa (rice cooked in milk) may be offered."

अर्थात्—मानवगृह्यसूत्र १.९.२२ में वताया गया है कि वेदका कथन है कि मधुपर्क मांस-विहीन नहीं होना चाहिये, अतः यदि गाय छोड़ दी जाय तो बकरी-वंशके पशुका मांस या पायस ही दे दिया जाय।

मूल सूत्र इस प्रकार है—

पश्वङ्गं पायसं वा कारयेत् नामांसो मधुपर्को इति श्रुतिः॥

ब्राह्मणसर्वस्व मासिक-पत्रके सम्पादक भीमसेन शर्मा द्वारा इसका हिन्दी-अर्थ इस प्रकार किया गया है (सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी द्वारा प्रकाशित, वेदप्रकाश यन्त्र द्वारा मुद्रित, सनातन धर्म पुस्तकालय, इटावासे प्राप्य, पृष्ठ १९-२०)—

पशुके अङ्ग रूप पायस (खीर) मधुपर्क पूजनमें करा लेवे क्योंकि दूध भी पशुका अंश होनेसे उसमें कारण रूपसे सभी विद्यमान हैं। श्रुतिमें लिखा है कि मांसके विना मधुपर्क नहीं होता, सो खीर बना लेनेपर भी पश्वङ्ग होनेसे मधुपर्कका श्रुत्यर्थ चरितार्थ है।

सबसे पहले वर्णन किये गये 'वेदोंमें मधुपर्क ?' शीर्षकके अन्तर्गत पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकरके उल्लेखके अनुसार वेदोंमें कहीं मधुपर्कका नाम भी नहीं है। मानवगृह्यसूत्रके प्रणेता अथवा टीकाकारने वेदमन्त्रका उद्धरण नहीं दिया, इसलिये यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि वेदमें ऐसा उल्लेख है कि मधुपर्क विना मांसके नहीं होता। यदि मांसका अर्थ पशुसे प्राप्त दुग्ध एवं चावलके मिश्रणसे निर्मित पायस लिया जाय तो यह बात मांस-प्रचारकोंको स्वीकार नहीं होगी और यदि वे इसको स्वीकार कर लेते हैं तो हमको कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि इसमें हिंसा नहीं है। शतपथ ब्राह्मणमें भी मांसको 'परमान्न' नाम दिया है **एतदु ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्**—शतपथ ११.७.१.३) और अमरकोशके अनुसार 'परमान्न' (दूध-चावलके मिश्रणसे पका हुआ और शक्करयुक्त) पायसका पर्यायवाची है (**परमान्नं तु पायसम्**—अमरकोश २.७.२४)। किन्तु पायस तैयार करनेमें समय लगता है और मधुपर्कको विधिमें इतने समयकी प्रतीक्षाकी गुंजाइश नहीं है, इसलिये पायस (खीर) को जगह पय (धारोष्ण दूध) का होना

अधिक उपयुक्त बात लगती है। पाण्डुरंग वामन काणे महोदय द्वारा कथित बकरेके मांसका मानवगृह्यसूत्रके इस मन्त्रमें कहीं उल्लेख नहीं है, वे कहांसे बकरेका मांस खोज लाये सो वे ही जानें।

मनुस्मृति

राजा राजेन्द्रलाल मित्रकी अंग्रेजी पुस्तक 'प्राचीन भारतमें गोमांस' के पूर्वोल्लिखित संस्करणमें पृष्ठ ६ पर यह उल्लेख है कि जब ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करके आवे, तब उसको उच्चासनपर बैठाकर, पुष्पहार पहिनाकर, उसके विवाहके पूर्व उसका पिता उसको गौ देकर मधुपर्क विधिसे सम्मानित करे (मनुस्मृति ३.३)। इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है। इसके बाद राजा राजेन्द्रलाल मित्र लिखते हैं—

"In a subsequent passage (Manu III. 119, 120) he (Manu) recommends the Madhuparka or the 'honeyed meal' with beef for the reception of Kings and other great dignitories."

अर्थात्—आगे जाकर मनु (३.११९,१२०) बताते हैं कि राजा एवं अन्य बड़े प्रतिष्ठित व्यक्तियोंका गोमांस सहित मधुपर्कके द्वारा स्वागत किया जाय।"

मनुस्मृति, तीसरे अध्यायके ११९ और १२०वें श्लोक इस प्रकार हैं—

राजर्त्विक्स्नातकगुरून्प्रियश्वसुरमातुलान् ।
अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात्पुनः ॥
राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ।
मधुपर्केण संपूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥

उपर्युक्त पहले श्लोकमें—राजा, ऋत्विक्, गुरु, जामाता, श्वसुर और मामाका वर्षमें एक बारके आगमन पर मधुपर्क द्वारा सम्मान करे—बताया है और दूसरे श्लोकमें यह कहा है कि यज्ञकार्यमें राजा और श्रोत्रिय जब भी आवें तभी मधुपर्कसे उनका सम्मान करे। इन दोनों श्लोकोंमें मधुपर्कसे सम्मान करनेकी बात तो जरूर कही है, किन्तु गोमांसकी इनमें गन्ध भी नहीं है। पता नहीं, राजा राजेन्द्रलाल मित्रको अथवा और लोगोंको इस प्रसंगमें इन श्लोकोंका उल्लेख करते हुए, चाहे वह कोई भी हों, इनमें गोमांसकी गन्ध कहाँसे आ गयी ?

राजा राजेन्द्रलाल मित्र उसी पुस्तकके पृष्ठ २९ पर लिखते हैं—

"Asvalayana emphatically ordains that no Madhuparka should be celebrated without flesh."

अर्थात्—आश्वलायन जोर देकर कहते हैं कि मांसके बिना मधुपर्ककी विधि नहीं होनी चाहिये—'**नामांसो मधुपर्को भवति भवति**' इसका विवेचन 'मधुपर्ककी वस्तुएँ', 'मधुपर्क द्वारा आतिथ्य-सत्कारकी विधिमें गोमांस असंभव है ?' एवं 'आश्वलायनगृह्यसूत्र शीर्षकोंके अन्तर्गत हो चुका है।

पाण्डुरंग वामन काणे अपने अंग्रेजोके ग्रन्थ 'धर्मशास्त्रका इतिहास ?, खण्ड २, भाग २, अध्याय २२, 'भोजन···मांसाहार' प्रकरणमें लिखते हैं—

"Manu (V. 41) contains a permission to kill animals only in Madhuparka and in sacrifice (Yajna) and in rites for gods and manes and no other occasions."

अर्थात्—मनु (अध्याय ५, श्लोक ४१) मधुपर्क, यज्ञ, पितृकर्म, देवकर्ममें जीव हिंसाको छूट देते हैं।

आजकलके उपलब्ध मनुस्मृतिके संस्करणोंमें उपयु'क्त पाठ इस प्रकार हैं—

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ (मनुस्मृति ५.४१)

इसका अर्थ इस प्रकार है—

मधुपर्कमें, यज्ञमें, पितृकर्ममें, देवकर्ममें—इतने अवसरोंपर पशुकी हिंसा की जा सकती है, और कहीं नहीं—**ऐसा मनुने कहा है।**

इसके अन्तिम वाक्यांश **इत्यब्रवीन्मनुः—इति अब्रवीत् मनुः**—ऐसा मनुने कहा है···इस बातके द्योतक हैं कि ये वचन मनुस्मृतिके नहीं हैं। मनुंस्मृतिमें दिये गये विधान सभी मनु महाराजके हैं, उसमें यह कहनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती कि यह मनुने कहा है। और किसी ग्रन्थमें मनुके विधानका उदाहरण दिया जाय तो वहाँ ऐसा कहा जा सकता है कि ऐसा मनुने कहा है—मनुने ऐसा विधान दिया है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि यह वचन मनुस्मृतिके अन्तर्गत मनु महाराजके द्वारा दिये गये विधानका नहीं है।

मनुस्मृति

Cambridge History of India, Vol. I, Chapter X, (by E. W. Hopkins), page 208, (2nd edition, 1962, published by S. Chand & Co., Delhi) में भी मनुस्मृतिके उपर्युक्त श्लोकके आधारपर ही लिखा लगता है—'The general rule in this regard is that attributed to Manu—'Animals may be killed (so said Manu) at the Madhuparka and Soma sacrifice (yajna) and at the rite for manes and gods'—जो श्लोक उपर्युक्त तर्कके अनुसार मनुस्मृतिका न होनेसे यह यह लेख भी निराधार सिद्ध हो जाता है।

मनुस्मृतिके इसी पांचवें अध्यायमें २७ वां श्लोक इस प्रकार है—

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥

इसका शुद्ध अर्थ अन्वयसहित नीचे दिया जा रहा है—

च (और) **प्राणानाम्** (प्राणोंके) **अत्यये** (निकलनेकी स्थिति होनेपर) **एव** (ही) (अर्थात्-प्राण-संकट उपस्थित हो, तभी और किसी हालतमें नहीं) **ब्राह्मणानाम्** (ब्राह्मणोंकी) **काम्यया** (कामनासे—अनुमतिसे) (अर्थात्-उस व्यक्तिके लिये प्राण-धारण जरूरी समझकर ब्राह्मण लोग ऐसी कामना करें तो ही) **यथाविधि** (विधिके अनुसार) **नियुक्त** (नियुक्त होकर) **प्रोक्षितं** (अभिमन्त्रित किये हुए) **मांसं** (मांसको) **भक्षयेत्** (खावे) (अन्य स्थितिमें या अन्य प्रकारसे नहीं।)

इससे स्पष्ट है कि उन व्यक्तियोंके लिये जो प्राणोंका मोह नहीं छोड़ सकते, प्राण-संकट उपस्थित होनेपर ही—जैसे अकालके समय अन्न न मिलनेपर अथवा किसी रोग विशेषमें प्राणरक्षाके लिये अन्य उपचार सम्भव न हो तो वैसी अवस्थामें ही मांस ग्रहणका विधान है, अन्य अवस्थाओंमें नहीं। इस विधानके अनुसार भी मधुपर्कमें मांसका होना सम्भव नहीं।

निम्न श्लोक भी मनुस्मृति, पाँचवें अध्यायके ही हैं—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥४५॥

जो व्यक्ति अपने सुखकी इच्छासे हिंसा न करनेवाले जीवोंको मारता है वह इस लोकमें तथा परलोकमें सुख नहीं पाता।

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥४६॥

जो प्राणियोंको बन्धनमें रखनेकी, मारनेकी या क्लेश देनेकी इच्छा नहीं करता, वह सबका हित चाहनेवाला अत्यन्त सुख पाता है ।

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥४७॥

जो किसीकी भी हिंसा नहीं करता, वह जो चाहता है, जो संकल्प करता है, जिस वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, वे सब उसको अनायास प्राप्त हो जाते हैं ।

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥४८॥

जीवकी हिंसा किये विना कभी मांस उत्पन्न नहीं हो सकता । प्राणियोंके वधसे स्वर्ग नहीं मिलता, इसलिये मांस नहीं खाना चाहिये ।

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥४९॥

मांसकी उत्पत्तिको और जीवोंके वध-बन्धनको अच्छी तरह विचार कर सब प्रकारके मांस-भक्षणको त्याग कर देना चाहिये ।

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥५०॥

(पिशाचवत्) पिशाच अर्थात् दुष्ट पुरुषोंके समान (विधि) भोजन तथा भक्ष्य-अभक्ष्यके नियमको (हत्वा) छोड़कर (यः मांसं न भक्षयति) जो मांसको नहीं खाता अर्थात् जो पुरुष भक्ष्य-अभक्ष्य सम्बन्धी नियम तोड़ने वाले पिशाचोंका अनुकरण नहीं करता, (स) वह (लोके) जगत्में (प्रियतां याति) प्रियता को पाता है । (व्याधिभिःच न पीड्यते) और न रोगोंसे ग्रसित होता है ।

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥५१॥

मारनेकी स्वीकृति देनेवाला, उसको खण्ड-खण्ड करनेवाला, मारने वाला,

बेचनें और खरीदनेवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला, और खानेवाला—ये सब घातक माने गये हैं।

वर्षेवर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥५३॥

जो प्रत्येक वर्ष एक सौ वर्षों तक अश्वमेध यज्ञ करता है और जो बिलकुल ही मांस नहीं खाता, इन दोनोंका पुण्यफल बराबर है।

फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥५४॥

फल-मूल और मुनियोंके जैसे भोजनसे वह फल नहीं मिलता, जो केवल मांस छोड़ देनेसे मिलता है।

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥५५॥*

मैं यहाँ जिसका मांस खाता हूँ, परलोकमें (मां) मुझको भी (स) वह खायगा—यही मांसका मांसत्व है (यही मांस शब्दकी निरुक्ति है) ऐसा पण्डितोंका कहना है।

मनुस्मृति अध्याय ११—

हिंसया व्याधिभूयस्त्वम् ॥५२॥†

अर्थात्—हिंसासे (मांस-भक्षणसे) व्याधि (रोग) उत्पन्न होता है।

यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवं ॥९६॥θ

अर्थात्—मद्य, मांस आदि यक्षों, राक्षसों और पिशाचोंका अन्न है।

---

*ये त्वनेवंविदाऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ॥ (श्रीम०भा० ११.५.१४)

अर्थात्—जो इस विशुद्ध धर्मको नहीं जानते, वे घमण्डी वास्तवमें तो दुष्ट हैं, परन्तु समझते हैं अपनेको श्रेष्ठ। वे धोखेमें पड़े हुए लोग पशुओंकी हिंसा करते हैं और मरनेके बाद वे पशु उन मारनेवालोंको खाते हैं।

†"क्या वैदिक कालमें गोहिंसा, मांसपरक यज्ञ और मांस-भक्षण प्रचलित था ?" शीर्षकके अन्तर्गत 'मुस्लिम धर्ममें गोमांस निषेध' उपशीर्षक देखिये।

θउपर्युक्त शीर्षकके अन्तर्गत 'मांस-भक्षीके लिये दण्ड-विधान' उपशीर्षक देखिये।

बड़े आश्चर्य और खेदके साथ यह प्रश्न पैदा होता है कि राजा राजेन्द्रलाल मित्र (Doctor of Law, LL.D.) और श्रीपाण्डुरंग वामन काणे (M.A., LL.M. Advocate) महोदयके सदृश कानूनके शास्त्री विद्वानोंके द्वारा मनुस्मृतिके उपर्युक्त स्पष्ट विधानोंकी क्यों अवहेलना की गयी और क्यों उनके द्वारा मनुस्मृतिके नामपर मांसाहारके प्रचारका निन्दनीय प्रयत्न किया गया ?

ऊपर उद्धृत मनुस्मृति, अध्याय ५, श्लोक संख्या ५५ के समर्थनमें श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध ४, अध्याय २५ में एक राजा प्राचीनबर्हिके इतिहासका वर्णन आता है जो पशुओंकी हिंसाके द्वारा यज्ञ किया करता था। श्रीनारदजीने उसको बताया—

> भो भोः प्रजायते राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे।
> संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान्निर्घृणेन सहस्रशः ॥७॥
> एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव।
> सम्परेतमयः कूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः ॥८॥

श्रीनारदजीने कहा–देखो, देखो, राजन् ! तुमने यज्ञमें निर्दयतापूर्वक जिन हजारों पशुओंकी बलि दी है, उन्हें आकाश में देखो ॥७॥ ये सब तुम्हारे द्वारा प्राप्त हुई पीड़ाओंको याद करते हुए बदला लेनेके लिये तुम्हारी वाट देख रहे हैं। जब तुम मरकर परलोकमें जाओगे, तब ये अत्यन्त क्रोधमें भरकर तुम्हें अपने लोहेके-से सींगोंसे छेदेंगे ॥८॥

श्रीनारदजी द्वारा ऐसा दिग्दर्शन करानेपर राजा प्राचीनबर्हिकी आँखें खुलीं और हिंसापूर्ण यज्ञको बन्द करके राज छोड़कर वे तपस्या करने चले गये।

इस प्रकारके ऐतिहासिक सत्यके सामने मधुपर्क, पितृकार्य और देवकार्यके बहाने पशु-हिंसाका औचित्य कैसे सम्भव हो सकता है ?

'उत्तर-रामचरित' और 'महावीरचरित'

राजा राजेन्द्रलाल मित्र अपनी अंग्रेजीकी पुस्तक 'प्राचीन भारतमें गोमांस' के उल्लिखित संस्करणके पृष्ठ ३ पर लिखते हैं—

"The passage in which Valmiki's preparation for the reception of Vasishtha is described in Uttara-Ramcharita, is so

remarkable, that I need not offer any apology to quote it entire. The scene is laid in front of hermitage of Valmiki..."

अर्थात्—उत्तर-रामचरितमें वर्णित वसिष्ठके स्वागतके लिये वाल्मीकि द्वारा तैयारीके वाक्य इतने स्पष्ट हैं कि उनका पूरा उद्धरण देनेके लिये मुझे कोई क्षमायाचनाकी आवश्यकता महसूस नहीं होती । यह कार्य वाल्मीकिके कुटीरके सामने हुआ है—

इसके बाद उन्होंने उत्तर-रामचरित नाटकके उस अंशका अंग्रेजी भावानुवाद दिया है,जिसके उद्धरणकी आवश्यकता नहीं। मूल पर ही विचार किया जाय।

भवभूतिका उत्तर-रामचरित करुण-रसप्रधान नाटक है। उसमें भगवान् श्रीरामके द्वारा राजतिलकके उपरान्त श्रीसीता महारानीके त्यागके प्रसंगका वर्णन है। कथानक केवल पौराणिक इतिहास पर आधारित नहीं है, उसमें काल्पनिक बातें भी जोड़ी गयी हैं। रसवर्धन हेतु ऐतिहासिक नाटकमें भी काल्पनिक बातें जोड़ना क्षम्य माना गया है। किन्तु जो काल्पनिक बात रसभंग करती हो एवं धर्मशास्त्रके विरुद्ध हो उसको क्षम्य नहीं कहा जा सकता । भगवान् श्रीराम द्वारा श्रीसीता महारानीके त्यागके प्रसंगके पूर्व गुरु वसिष्ठजी, गुरुपत्नी अरुन्धती एवं भगवान् श्रीरामकी माता कौशल्याजीको नाटककार ऋष्यशृंगके आश्रममें उनके बारह वर्षीय यज्ञमें भेज देते हैं जिससे कि श्रीसीता महारानीके त्याग-कार्यमें बाधा उपस्थित कर सकनेवाले कोई गुरुजन सन्निधिमें न रहें । यह घटना किसी पुराण-सम्मत नहीं हैं। यहाँ तक इस कल्पनाको क्षम्य माना जा सकता है।

प्रायः बारह वर्षके बाद ये सत्र लौटते हैं और मार्गमें वाल्मीकि-आश्रममें ठहरते हैं।

श्रीसीता महारानीके त्यागकी सूचना सब ओर बिजलीकी तरह शीघ्र ही प्रकाशित हो जाती है। इसपर श्रीसीता-महारानीके पिता राजा जनक दुःखी होकर वानप्रस्थ ग्रहण करके चन्द्रदीप तपोवनमें तपस्या करनेके लिये चले जाते हैं एवं जिस समय अरुन्धतीजी एवं राजमाता कौशल्याजी सहित गुरु वसिष्ठजी वाल्मीकि-आश्रममें पहुँचते हैं उसी समय राजा जनकजी भी तपस्यासे विरत हो अपने मित्र वाल्मीकिसे मिलनेके लिये वहाँ पहुँचते हैं।

श्रीसीता महारानी गर्भवती प्रसवासन्ना हैं। उनकी सास राजमाता श्रीकौशल्याजीको उनकी पुत्रवधू राजरानी श्रीसीता महारानीका इस अवस्थामें छोड़कर दूर देश प्रस्थान कराना और उन्हें वहाँ प्रायः बारह वर्षों तक रखना, पौत्र-जन्मोत्सव-सम्भाव्य-सुखसे वंचित करना, सीताजीके त्याग की सूचना जानकर भी ऋष्यश्रृंगके यज्ञमें बारह वर्षोंतक सबको वहीं टिकाये रखना—इस कल्पनाके औचित्यपर पाठक स्वयं विचार करें। आजकलके पाश्चात्य प्रभावसे आक्रान्त समाजमें भी ऐसी बात होनी सम्भव नहीं लगती।

इतना ही नहीं, इस दुःखपूर्ण शोकावस्थामें वाल्मीकि आश्रममें वाल्मीकि-ऋषि द्वारा गोमांसयुक्त मधुपर्कसे स्वागत कराना तथा राजा जनक द्वारा गोमांसयुक्त मधुपर्क अस्वीकार कराना और महर्षि वसिष्ठ द्वारा गोमांसयुक्त मधुपर्क स्वीकार कराना—क्या करुण-रस-वर्धनकी वस्तु कही जा सकती है जिस रसकी प्रधानताको लेकर नाटकको रचना हुई है? यदि इस प्रकारकी रचना भवभूतिकी है तो इसमें उनकी कोई प्रतिभा नहीं है और यदि किसीने बादमें जोड़ा है तो अक्षम्य और घोर अपराध किया है। राजा रामचन्द्र वहाँ पधारते हैं तो उनका मधुपर्क द्वारा स्वागत नहीं कराया गया है, यह ध्यान देनेकी बात है।

दुःख-शोककी अवस्थामें मांस-मदिरा आजकल भी पाश्चात्य प्रभावसे आक्रान्त लोगोंको भी अच्छी नहीं लगेगी, फिर महर्षि वसिष्ठको श्रीसीता महारानीके त्यागजनित दुःखपूर्ण करुण प्रसंगमें, जनकजीकी उपस्थिति उसी आश्रममें उस समय होते हुए भी, गोमांसयुक्त मधुपर्क स्वीकार कराना कितनी निकृष्ट कल्पना है—इसका पाठक स्वयं अनुमान करें।

रघुकुलके गुरु महर्षि वसिष्ठजीकी नन्दिनी गायकी सेवामें भगवान् श्रीरामके पूर्वज महाराजा दिलीप उस गायपर सिंहके आक्रमण करनेपर उस सिंहको अपना शरीर अर्पण करनेको तत्पर थे। ऐसे रघुवंशके कुलगुरु महर्षि वसिष्ठ गोमांस ग्रहण करें और वह भी दुःख-शोकके समय—यह एक बहुत ही असम्भाव्य कल्पना है।

क्योंकि घटना प्रसंग कल्पित है, अतः वाल्मीकि ऋषि द्वारा वसिष्ठ ऋषिको गोमांसयुक्त मधुपर्क दिलाना और उनके द्वारा स्वीकार कराना भी कल्पित और मिथ्या है। अतः यह सिद्ध हुआ कि उत्तर-रामचरित नाटकमें

चतुर्थ अंकमें गोहत्या करवाकर ताजा गोमांसयुक्त मधुपर्ककी बात कल्पित और मिथ्या है, ऐतिहासिक सत्य नहीं है।

उपर्युक्त प्रसङ्ग विष्कम्भकमें वाल्मीकिके दो शिष्यों द्वारा प्रहसनके रूपमें उपस्थित किया जाता है। प्रहसनकी यथार्थताका क्या मूल्य होता है, इसका पाठक स्वयं अनुमान कर लें। इसके अतिरिक्त मधुपर्ककी वस्तुओंमें और मधुपर्क-विधिमें मांसकी गुंजाइश ही नहीं, इसका विवेचन पहले ही हो चुका है।

इसके बाद राजा राजेन्द्रलाल मित्र भवभूतिके 'महावीरचरितम्' से मधुपर्कमें गोमांस सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं। अब उसपर भी विचार किया जाय।

भवभूतिका 'महावीरचरितम्' नाटक भगवान् श्रीरामचन्द्रका पूर्व-चरित्र है। विश्वामित्र ऋषि यज्ञ-रक्षाके लिये राम और लक्ष्मणको मांगकर ले गये—इसके बादसे नाटकका कथानक आरम्भ होता है और राम-वनवास, रावण आदि राक्षसोंका वध और अयोध्या-प्रत्यागमन होकर भगवान् रामको राजतिलक हुआ—यहाँ तकका वर्णन है। कथानक पुराणोंमें वर्णित इतिहासके अनुसार नहीं लिया गया। नाटककार प्रायः इस दिशामें स्वतन्त्रता बरतते देखे जाते हैं। फलतः किसी भी नाटकको इतिहासके रूपमें मान्यता नहीं दी जा सकती। संक्षेपमें नाटकका कथानक इस प्रकार है—

> विश्वामित्र ऋषिके आश्रममें यज्ञ-रक्षाके लिये जब राम और लक्ष्मण पहुँचते हैं, तभी राजा जनकके भाई कुशध्वज भी आमन्त्रित राजा जनकके प्रतिनिधि रूपमें सीता और उर्मिलाके साथ वहाँ पहुँचते हैं। रामको देखकर उनके मनमें रामके प्रति इतना आकर्षण होता है कि वे सोचने लगते हैं कि यदि धनुष भङ्गकी शर्त न लगायी गयी होती तो राम और सीताका विवाह हो जाता। वहीं पर रावणकी ओरसे उसका पुरोहित सर्वमाय नामक राक्षस रावणकी ओरसे सीताके विवाह कर देनेका प्रस्ताव लेकर पहुँचता है, जिस प्रस्तावपर टाल-मटोल कर दी जाती है। उसीके सामने ताड़का राक्षसी यज्ञमें विघ्न करने आती है। सबके देखते-देखते राम उसका वध कर डालते हैं। विश्वामित्र द्वारा राम और लक्ष्मणको दिव्य-अस्त्र दिये जाते हैं। शिव-धनुको विश्वामित्र अपने ध्यान बलसे आकर्षित कर वहाँ

मंगवा लेते हैं। और राम द्वारा उसका भङ्ग करवाते है और उसी समय राम-सीता, लक्ष्मण-उर्मिला, भरत-माण्डवी और शत्रुघ्न-श्रुतकीर्तिके विवाहकी बात पक्की हो जाती है। इसके बाद सुबाहु और मारीच वहाँ उत्पात करने आते हैं और उनका भी वध हो जाता है।

सर्वमाय राक्षस लङ्कामें जाकर इन सबको सूचना देता है। उस समय रावणको जामदग्न्य परशुरामजीका पत्र मिलता है कि दण्डकारण्यसे राक्षस लोग बहुत उत्पात करते हैं, उसको बन्द किया जाय। रामके द्वारा परशुरामजीके गुरु शिवजीका धनुष-भङ्ग होनेपर रावण परशुरामजीको उकसानेकी योजना बनाकर उनको रामसे भिड़ानेके लिये जनकपुर भेजता है, वहाँ विवाहकी तैयारियाँ हो रही हैं। परशुरामजी वहाँ पहुँचकर रामका रूप देखकर चकित से हो जाते हैं, किंतु क्रोध बनाये रहते हैं। राजा जनक आकर कहते कि यदि ये अतिथिके रूपमें आये हैं तो इन्हें श्रोत्रियोचित मधुपर्क दिया जाय और यदि शत्रु-रूपमें आये हों तो इनका सामना किया जाय। कुछ वीरोचित वाक्योंके बाद राम तो विवाह-विधिके लिये भीतर चले जाते हैं। परशुरामजीको शान्त करनेका वसिष्ठ और विश्वामित्र प्रयत्न करते हैं। उनका क्रोध शान्त न होनेपर दशरथ भी उनका सामना करनेको तैयार होते हैं। विवाह-कार्य पूर्ण होनेपर राम वहाँ पहुंचते हैं और परशुरामजीका पराभव हो जाता है तथा वे चले जाते हैं।

अयोध्यासे कैकेयीकी दासी मन्थरा कैकेयीका एक पत्र लेकर रामके पास पहुँचती है, जिसमें कैकेयीने अपने दो वरदानोंका उल्लेख करते हुए अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया है कि राम १४ वर्षके लिये वनको जायँ, साथमें केवल सीता और लक्ष्मण जायँ तथा भरतको राजगद्दी दी जाय।

भगवान् राम पिता दशरथके पास जाकर वन जानेकी आज्ञा मांगते हैं और जनकपुरसे ही कैकेयीके भाई युधाजित् और अन्य सब परिजनोंको कलपाते हुए सीता और लक्ष्मणके साथ वन चले जाते हैं। भरतके आग्रहपर राम शरभङ्गकी भेजी हुई अपनी स्वर्ण-पादुका उनके लिये छोड़ जाते हैं और भरत उन पादुकाओंको

नन्दिग्राममें स्थापित कर रामकी आज्ञाका पालन करते हैं। लक्ष्मण और सीता सहित राम रास्तेमें विराध आदि राक्षसोंका वध करते हुए चित्रकूट होते हुए तथा ऋषियोंसे मिलते हुए दण्डकारण्य पहुँचते हैं। यहाँ उनके हाथों खर, दूषण, त्रिशिरा आदि १४ हजार राक्षसोंका वध होता है। सीताहरणपर जटायु रावणसे युद्ध करते हुए घायल हो जाता है। भरतके नन्दिग्राम जानेसे लेकर यहाँ तक विष्कम्भक है।

जटायुसे श्रीराम मिलते हैं, जटायु सीता-हरणकी सूचना देकर प्राण छोड़ देता है। इसके बाद विभीषणका शरणागति-पत्र लेकर श्रमणा आती है और विभीषण आत्म-समर्पण करता है। पश्चात् बालीसे मिलना होता है, बाली युद्धकी चुनौती देता है और श्रीरामके हाथसे मारा जाता है तथा अपना राज्य आदि सुग्रीवके लिये छोड़ देता है।

लङ्का जलने लगती है। त्रिजटा आकर माल्यवान्को अक्षयकुमारके मरनेकी सूचना देती है। कुम्भकर्णको जगाया जाता है। युद्ध होता है, लक्ष्मण मूर्छित होते हैं। संजीवनी बूटी आती है, लक्ष्मण ठीक हो जाते हैं। मेघनाद, कुम्भकरण आदिका वध हो जाता है। सीताकी अग्नि-परीक्षा होती है। यह सब वार्तालापमें विष्कम्भक के रूपमें बताया जाता है। विमानसे श्रीरामचन्द्र, सीता, लक्ष्मण आदि अयोध्या आते हैं। सबसे मिलन होता है और राजतिलक हो जाता है।

इस कथासे अनुमान लगाया जा सकता है कि यह पौराणिक इतिहाससे कितनी भिन्न और कल्पित है।

राजा राजेन्द्रलाल मित्र 'महावीरचरित' में गोमांसका उल्लेख करते हुए अपनी उसी पुस्तकके उल्लिखित संस्करणमें पृष्ठ ५ पर लिखते हैं—

"Vasishtha, in his turn, likewise, slaughtered the 'fatted calf' when entertaining Viswamitra, Janaka, Satananda, Jamdagnya and other sages and friends, and in Mahavira-charita, when pacifying Jamadagnya, tempted him by saying, "The heifer is ready for sacrifice, and the food is cooked in ghee. Thou art a learned man, come to the house of the learned; favour us (by joining in the entertainment)."

अर्थात्—बदलेमें उसी तरह वसिष्ठ भी विश्वामित्र, जनक, शतानन्द, जामदग्न्य (परशुराम) और अन्य ऋषियों एवं मित्रोंके आतिथ्य-सत्कारमें मोटे-ताजे गोवत्सको कत्ल किया और जामदग्न्यको शान्त करते हुए यह कहकर प्रलोभन दिया–"बछिया बलिदानमें दिये जानेके लिये तैयार है और भोजन घीमें पकाया हुआ है, आप स्वयं विद्वान् हैं, विद्वान्के गृहमें पधारे हैं (भोजनमें सम्मिलित होकर) हमको अनुगृहीत करें।"

इसके प्रमाणमें 'महावीरचरितम्' नाटक अंक ३ का मूल श्लोक वहींपर पाद-टिप्पणीमें इस प्रकार दिया है—

संज्ञाप्यते वत्सतरी सर्पिष्यन्नञ्च पच्यते ।
श्रोत्रियः श्रोत्रियगृहानागतोऽसि जुषस्व नः ॥

यहाँपर **संज्ञाप्यते वत्सतरी'** का अर्थ 'the heifer is ready for sacrifice' अर्थात् 'बछिया बलिदानके लिये तैयार है' किया गया लगता है। राजा राजेन्द्रलाल मित्रने कहा है—वशिष्ठने विश्वामित्र, जनक, शतानन्द, जामदग्न्य एवं अन्य ऋषियों और मित्रोंके आतिथ्य-सत्कारमें मोटा-ताजा बछड़ा कत्ल किया। इस मूल श्लोकमें मोटा-ताजा बछड़ा कत्ल किया कहीं भी नहीं है और 'महावीरचरित्रम्' में इस श्लोकके आगे-पीछे ऐसी बात कहीं मिलती नहीं। पता नहीं, राजा राजेन्द्रलाल मित्र कहाँसे 'मोटा-ताजा बछड़ा कत्ल किया' खोज लाये। बादमें वे कहते हैं 'बछिया कत्लके लिये तैयार है'। ये दोनों बातें एक दूसरेके विरुद्ध पड़ती हैं। इसी प्रकार ऐसे लोग जैसी-तैसी अनर्गल बातें कहकर सीधे-सादे लोगोंको भ्रममें डाल देते हैं।

उपर्युक्त प्रसङ्गमें मूल ग्रन्थमें वशिष्ठ और विश्वामित्र परशुरामजीके क्रोधावेशको शान्त करनेकी चेष्टामें कहते हैं—

इष्टापूर्त्तविधेः सपत्नशमनात्प्रेयान्मघोनः सखा
येन द्यौरिव वज्रिणा वसुमती वीरेण राजन्वती ।
यस्यैते वयमग्रतः किमपरं वंशश्च वैवस्वतः
सोऽयं त्वां तनयप्रियः परिणतो राजा शमं याचते ॥
तद्विरम शुष्ककलहात् इदं चास्तु ।

अर्थात्—यज्ञानुष्ठान तथा देवालय आदिके निर्माण और शत्रुओंका विनाश करके जो इन्द्रके मित्र बने हैं, जो स्वर्गमें देवराजके समान

पृथ्वीमें अच्छे शासक गिने जाते हैं, हम जिनके साथ हैं जो सूर्यवंशजात हैं वे बूढ़े राजा दशरथ पुत्रप्रेमके वशीभूत होकर आपसे शान्तिकी याचना करते हैं। इसलिये छोड़िये इस वृथा युद्धको।

राजा राजेन्द्रलाल मित्रने अपनी मान्यताके प्रमाणमें अपनी पुस्तककी पाद-टिप्पणीमें जिस श्लोकका उद्धरण दिया है, उसका वर्णन ऊपर हो चुका। वसिष्ठने विश्वामित्र, जनक, शतानन्द, जामदग्न्य एवं अन्य ऋषियोंके और मित्रोंके लिये मोटा-ताजा बछड़ा कत्ल किया, ऐसा वर्णन 'महावीरचरितम्' नाटकमें कहींपर भी नहीं है और न वसिष्ठद्वारा इन सबके आतिथ्य-सत्कारका कहींपर भी उल्लेख है।

कितने आश्चर्यकी बात है कि राजा राजेन्द्रलाल मित्र सरीखे पढ़े-लिखे विद्वान् कहे जाने वाले लोग इस प्रकार कल्पित वर्णनके आधारपर और उसको भी तोड़-मरोड़कर सीधे-सादे देशवासियोंको, जो उनकी विद्वत्ताको मान्यता देते हैं, इस प्रकार भ्रमित करते हैं! इसमें क्या कारण थे—यह बात प्रस्तावनामें बहुत स्पष्ट रूपसे प्रमाणित कर दी गयी है। आज भी भारत सरकारके द्वारा 'प्राचीन भारतमें गोमांसका सेवन प्रचलित था' इस बातका भ्रमात्मक प्रचार करनेके लिये उनकी इस पुस्तकको बड़े गौरवके साथ उद्धृत किया जाता है।

अतिथि-सत्कारमें महोक्षं, महाजं अथवा वेहतं

पाण्डुरंग वामन काणे महोदय अपने अंग्रेजी भाषाके ग्रन्थ 'धर्मशास्त्रका इतिहास', खण्ड २, भाग २ नृयज्ञ या मनुष्य-यज्ञके प्रकरणमें पृष्ठ ७५०, पंक्ति ८-१७ में लिखते हैं—

"Yajnavalkya-Smriti I.109 also says that a big ox or a goat was to be kept apart for a guest learned in Veda. But the commentary Mitakshara on Yajnavalkya-Smriti and other medieval writers to whom flesh-eating was an anathema and an unspeakable sin for a Brahman remark that an ox or a goat was to be understood as set apart for the guest to flatter him (with the words 'this ox is yours') just as one says in humility 'all this house is yours' and that the ox or goat was not meant to be given in gift or to be killed since it

would be impossible to find an ox each time a shrotriya guest comes."

अर्थात् - याज्ञवल्क्य स्मृति १.१०६ में भी यही कथन है कि एक बड़ा साँड या बकरा श्रोत्रिय अतिथिके लिये अलग रक्खा जाता था। किन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा नामक टीकाके रचयिता एवं दूसरे मध्यकालीन टीकाकार—जो ब्राह्मणके लिये मांस-भक्षण घृणित एवं अकथनीय पाप मानते थे—कहते हैं कि साँड़ या बकरा अतिथिके लिये उसको प्रसन्न करने मात्रके लिये रक्खा जाता था (यह कहकर कि यह आपका ही है, जिस तरह कि विनय और नम्रतामें यह कहनेकी प्रथा है कि यह घर आपका ही है, इत्यादि, और साँड़ या बकरा दानमें—भेंटमें देनेके लिये या वध करनेके लिये नहीं होता था, क्योंकि प्रत्येक श्रोत्रिय अतिथिके आगमनपर एक साँड़ या बकरा (दिया जाय तो) मिलना असम्भव हो जायगा।

उपर्युक्त वाक्यसे सम्बन्धित याज्ञवल्क्य स्मृतिका श्लोक आचार-अध्यायके गृहस्थधर्म प्रकरणमें है जिसका पाठ इस प्रकार है—

महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्।
सत्क्रियाऽन्वासनं स्वादु भोजनं सूनृतं वचः॥ (याज्ञवल्क्य स्मृति १.१०६)

इसका सीधा-सादा अर्थ इस प्रकार है—

श्रोत्रिय (वेदज्ञ) अतिथिके लिये बड़ा साँड़ या बड़ा बकरा उसके सन्मुख उपस्थित करे। (उसके उपरान्त) उसका (पाद्यार्घ्य, आचमन, आसन आदिसे) स्वागत करे, (उसके बैठ जानेपर) निकट बैठे, स्वादिष्ट भोजन करावे और प्रिय वचन बोले।

उपयुक्त श्लोकमें महोक्ष या महाज अर्पणके लिये संस्कृतका मूल शब्द 'उपकल्पयेत्' है, जो 'उप' प्रत्यय पूर्वक 'क्लृप' धातुसे बना है। 'उपक्लृप्' का अर्थ मोनियर विलियम संस्कृत-अंग्रेजी कोशमें पृष्ठ १९५ कालम ३ में इस प्रकार है—

To be fit for; to be ready at hand; to become, to serve as; to lead to; to take the shape or form of; to become; to be; to prepare; to make ready; to equip; to procure; to allot; to bring near; to fetch; to assign; to put or set up; to turn towards; to arrange; to import; to communicate; to assure; to suppose.

इसमें हिंसाकी कहीं गन्ध भी नहीं है। अतः यह तो स्पष्ट हैं कि अतिथिके लिये इनका वध करके उसको मांस खिलानेकी कोई बात नहीं है। श्रोत्रियके अतिथि-सत्कारमें अर्घ्य अर्थात् मधुपर्क दिया जाता है, इसका वर्णन इसके आगेके ११० संख्याके श्लोकमें है। उसके आगे पीछे कहीं भी मधुपर्क-अर्घ्यके साथ देनेका या किसी जीवकी हिंसाका उल्लेख नहीं है।

इससे भी यह सिद्ध होता है कि मधुपर्कमें किसी भी प्रकारके पशु-शरीरके मांसकी आवश्यकता नहीं है।

टीकाकारोंका मत है कि महोक्ष (बड़ा साँड़) या महाज (बड़ा बकरा) अतिथिके सम्मुख उपस्थित किया जाता है जो एक शिष्टाचारका अंग मात्र है जिसमें अतिथिके लिये इस प्रकारके विनययुक्त शब्दोंका प्रयोग होता है कि यह घर-द्वार आपका ही है, यह वस्तु आपकी ही है, इत्यादि इत्यादि, वास्तवमें उस अतिथिको देनेके लिये नहीं है, क्योंकि नये-नये श्रोत्रिय अतिथि यदा-कदा आते ही रहते हैं, यदि सबको एक बड़ा साँड़ या बड़ा बकरा दिया जाय तो इतने बड़े साँड़ या बकरे कहांसे आयेंगे? मूल पाठमें ऐसा कोई भाव नहीं है। पर यह आसानीसे समझा जा सकता है कि जिसके पास अतिथिको देनेके लिये साधन हो, उसको तो विधानके अनुसार बतायी हुई वस्तु देनी ही चाहिये और जिसके पास साधन न हों उसके लिये न तो उस वस्तुके उपस्थित करनेकी आवश्यकता है और न देनेकी। रही बात शिष्टाचार विनययुक्त शब्दोंकी, यह तो आज भी प्रचलित है। जब कोई अतिथि आता है, उसके सम्मुख ऐसी ही विनययुक्त भाषाका प्रयोग किया जाता है कि यह घर आपका ही हैं, यहाँ सुख-स्वच्छन्दतासे रहिये, अमुक वस्तु आपकी ही है, उसका उपभोग कीजिये इत्यादि इत्यादि।

महोक्ष या महाजके समर्पणमें सार्थकता है या नहीं, इसके विषयमें आगे विचार किया जायगा

अतिथिको महोक्ष और महाज अर्पण करनेकी बात शतपथ-ब्राह्मण आदिमें आती है। उसपर भी विचार किया जाय।

पाण्डुरंग वामन काणे महोदय अपने अंग्रेजी भाषाके ग्रन्थ 'धर्मशास्त्रका इतिहास', खण्ड २, भाग २ अध्याय २१, नृयज्ञ या मनुष्य-यज्ञके प्रकरणमें पृष्ठ ७५०, पंक्ति ४-६ में लिखते हैं—

"The Satapatha shows that an ox or a goat was cooked for a guest, either a king or a Brahman (III. 4.1.2)"

अर्थात्—शतपथ-ब्राह्मण ३.४.१.२ में वर्णन है कि राजा या ब्राह्मण अतिथिके लिये साँड़ या बकरेको राँधा जाता था,

मूल पाठ इस प्रकार है—

> अथ यस्मादातिथ्यं नाम। अतिथिर्वा एष एतस्यागच्छति यत्सोम: क्रीतस्तस्मा एतद्यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्तदह मानुषं हविर्देवानामेवमस्मा एतदातिथ्यं करोति॥

इसमें अनेक लोग 'पचेत्' का अर्थ 'अग्निपर पकानेका' करते है। सीधा-सादा अर्थ 'पचेत्' का 'अग्निपर पकाना' ही होता है। यहाँ क्या अर्थ अभीष्ट है—इसपर विचार करना है।

महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३१८ के वर्णनके अनुसार शतपथ-ब्राह्मण याज्ञवल्क्यको सूर्यसे प्राप्त हुआ था। उसी ज्ञानके आधारपर उनके द्वारा याज्ञवल्क्य स्मृति बनायी गयी होगी। अतः अतिथिका महोक्ष या महाज द्वारा सत्कार करनेकी बातमें दोनोंका सामञ्जस्य होना चाहिये। पं० श्रीदीनानाथ शर्मा शास्त्रीने अपने ग्रन्थ श्रीसनातनधर्मालोक, छठे सुमनके पृष्ठ ३३३-३३४ एवं पृष्ठ ३४२-३४३ पर इसका विवेचन करते हुए लिखा है—

> शतपथ-ब्राह्मणमें 'पचेत्' का अर्थ 'पकावे' नहीं है, किन्तु 'व्यक्तीकुर्यात्' (प्रकट करे) अर्थ है। इसमें 'पचि व्यक्तीकरणे' (भ्वा०से०आ०) यह धातु है। बालमनोरमा टीकामें (श्रीगुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा एवं चौखम्बा संस्कृत सीरिज ओफिस द्वारा वाराणसीमें प्रकाशित संस्करणोंमें यहाँ लिखा है—'पचेत्येके' अर्थात्—इस 'पचि' धातुका पाठभेद 'पच्' भी हैं। तब उसका अर्थ 'व्यक्तीकरण' (प्रकट करना) है। इस अर्थमें शतपथ-ब्राह्मण और याज्ञवल्क्य स्मृतिकी एकार्थता सिद्ध हो गयी। अब प्रश्न यह है कि उक्त धातु आत्मनेपदी है, पर शतपथके प्रयोगमें आत्मनेपद नहीं, इसपर यह जानना चाहिये कि आत्मनेपद तो अनुदात्त त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्' इस परिभाषासे अनित्य है। अतः शतपथके वाक्यमें वह नहीं हुआ, अथवा आर्षतासे व्यत्ययवश नहीं हुआ।

हमारा किया हुआ यह अर्थ समूल भी है।* उक्षाणं पृश्निमपचन्त' (ऋ०सं० १.१६४.४३) इस मन्त्रमें 'पच्' धातुके लिये श्रीसायणाचार्यने लिखा है—"उक्षाणं-फलस्य सेक्तारं सोमम् ऋत्विजः अपचन्त··· पचधात्वर्थानादरेण तिङ्प्रत्ययः करोत्यर्थः। स च क्रियासामान्यवचनः। अत औचित्यात् सम्पादितवन्तः इत्यर्थः।" अर्थात्—यहाँ 'पच्' धातु का अर्थ 'सम्पन्न करना' है। इस प्रकार दिङ्नागकी 'कुन्दमाला' नाटिकामें भी 'इक्ष्वाकूणां च सर्वेषां क्रियाः पुंसवनादिकाः। अस्माभिरेव पच्यन्ते' (१.३१) यहाँ भी 'पच्' धातुका अर्थ उपकल्पन वा सम्पादन ही है। इसी प्रकार 'नमो मत्स्यकूर्मादिनानास्वरूपे···मखादिक्रियापाककर्त्रेऽघहन्त्रे' इस प्रसिद्ध पुराण-प्रोक्त देव-स्तोत्रमें भी 'पाककर्त्रे' का 'उपकल्पक' वा 'साधक' ही अर्थ है। तब याज्ञवल्क्यप्रोक्त शतपथके वचनमें भी 'पच्' धातुका सम्पादन, उपकल्प इत्यादि अर्थ है, 'पकाना' अर्थ नहीं। श्रीयाज्ञवल्क्यको वही अर्थ इसमें इष्ट है, जैसा कि उन्होंने अपनी 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में सूचित किया है।

---

*श्रीसायणचार्यजीकी 'माधवीया धातुवृत्ति' (प्राच्यभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९६४) के भ्वादिगण (१.८६-८७) में १०७ संख्याकी पचि व्यक्तीकरणे धातुके विवरणके अन्तमें लिखा है—

पच इति दुर्गः, तथा वर्धमानोऽपि। यदाह—अनिड्विधौ पच्यादिसूत्रे डुपचष् पाके, पच व्यक्तीकरणे इति। सम्मतायां तु वर्धमानवद् उक्त्वा 'अन्यैस्त्वयमिदित् पठ्यते' इत्युक्तम्। 'तिङो गोत्रादीनि' इत्यत्र पचति गोत्रमित्युपादाय' 'पच व्यक्तीकरणे' इति पठन् न्यासकारः परस्मैपदिनं च मन्यते।'

अर्थात्—दुर्गने इस "पचि व्यक्तीकरणे' धातुको 'पच व्यक्तीकरणे' माना है। वर्धमानने भी 'पच' ही माना है। सम्मता नामक पुस्तकमें तो वर्तमानकी तरह 'पच' धातु कहकर दूसरे इसे 'पचि' मानते हैं—यह कहा है।

'तिङो गोत्रादीनि' पचति गोत्रम् में न्यासकारने पच व्यक्तीकरणे धातु मानी है और उसे परस्मैपदी माना है। शतपथमें परस्मैपद होनेसे ठीक संगति लग जाती है।

अथवा 'उक्षा' का अर्थ 'सोम' भी होता है, जैसा कि—'सोम उक्षाऽभवत्' (ऋग्वेद सं० के सायणभाष्यमें (१.१६४.४३) उसीका पचन-सम्पादन यहाँ इष्ट है; यह संगत भी है। वस्तुतः 'महोक्षं पचेत्' इस ब्राह्मणका मूल 'उक्षाणं पृश्निमपचन्त' (ऋ० १.१६४.४३) यह मन्त्र मालूम होता है; यहाँ सायणने उसका अर्थ सोम-सम्पादनका किया है ; अतः ब्राह्मणमें भी वही संगत प्रतीत होताहै कि—अतिथिके लिये सोम-सम्पादन करना। अथवा 'उक्षा' ऋषभकन्द भी होता है। इनके नाम सभी वैलवाचक होते हैं। मांसल होनेसे दीर्घायु बढ़ानेवाली औषधियोंमें 'उक्षा' वनस्पति भी है (राजनिघण्टु व० ५) वहाँ उसके ऋषभः, उक्षा, गौः, वृषभः,—यह पर्यायवाचक शब्द भी आये हैं। 'अज' का अर्थ 'अजमोदा' भी है। महाजा' यह बड़ी अजवायनका नाम भी होता है। अतिथिको भोजन-क्रियाके बाद पाचनक्रियार्थं अथवा बलवर्धनार्थं इन औषधियोंका दान भी सम्भव हो सकता है अथवा 'अजा व्रीहयस्तावत् सप्तवार्षिकाः' (पञ्चतन्त्र काकोलूकीय ३ कथा)

"बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि नो छागं हन्तुमर्हथ।"

(महाभारत, शान्तिपर्व ३३७.४)

उस उक्तिसे 'अज' शब्दका 'सात वर्षके पुराने चावल' यह भी अर्थ है, अतिथिके लिये उन्हींका पकाना वा वृषभकन्द वा सोमरसका पकाना भी इष्ट हो सकता है।

यदि यह अर्थ मान्य न हो···महोक्ष या महाजकी हिंसा करके उनके शरीरसे प्राप्त मांसका अग्निपर पकाना अर्थ लिया जायगा—तो वह वेदके सिद्धान्तोंके विरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक एवं अमान्य होगा।

वसिष्ठधर्मसूत्रमें भी 'महोक्ष' या 'महाज' द्वारा अतिथि-सत्कारकी बात लिखी है—

अथापि ब्राह्मणाय वा राजन्याय वाभ्यागताय महोक्षाणं वा महाजं वा पचेदेवमस्मा आतिथ्य कुर्वन्तीति ॥ (वसिष्ठधर्मसूत्र ४.८)

उपर्युक्त विवेचनके पश्चात् इसपर और विवेचनकी आवश्यकता नहीं। इसके पूर्व कुछ श्लोक 'मधुपर्कमें मांस और यज्ञमें हिंसा' विधेय बताते हैं

जिनका विवेचन वशिष्ठधर्मसूत्र और सांखायनगृह्यसूत्र उपशीर्षकोंके अन्तर्गत हो चुका है।

पाण्डुरंग वामन काणे महोदय अपने अंग्रेजी भाषाके ग्रन्थ धर्मशास्त्रका इतिहास, खण्ड २, भाग १, अध्याय १० में मधुपर्कके प्रकरणमें पृष्ठ ५४२, पंक्ति ६-१० में लिखते हैं—

> "It appears that the Aitareya Brahmana III. 4, when it says that 'if the ruler of men comes as a guest or any one else deserving of honour comes, people kill a bull or a cow (that has contacted a habit of abortion)' refers to Madhuparka, though that word is not actually used."

अर्थात्—ऐसा लगता है कि ऐतरेय ब्राह्मण ३.४ में जहाँ यह बताया है कि यदि मनुष्योंका शासक (राजा) अतिथि रूपसे आवे या अन्य कोई सम्मान्य व्यक्ति आवे तो लोग एक सांड़ अथवा एक गाय (जिसका गर्भ बार-बार गिर जाता हो) की हत्या करते हैं, जिसका सम्बन्ध मधुपर्कसे है, यद्यपि मधुपर्क शब्दका वहाँ प्रयोग नहीं हुआ है।

ऐतरेय ब्राह्मण ३.४ का उद्धरण वहींपर पाद-टिप्पणीमें इस प्रकार दिया है—"तद्यथैवादो मनुष्यराज आगते न्यस्मिन्वाऽर्हति उक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्ते।" और लिखा है कि इसका उद्धरण मेधातिथिने मनुस्मृति ३.११९ में तथा हरदत्तने गौतमधर्मसूत्र १७.३० में दिया है।

उसी ग्रन्थके खण्ड २, भाग २, अध्याय २१ के नृयज्ञ या मनुष्ययज्ञके प्रकरणमें पृष्ठ ७५०, पंक्ति ६-८ में पाण्डुरंग वामन काणे महोदय लिखते हैं—

> "Vide also Aitareya Brahmana III.4, for the offering of an ox or a barren cow to a king or another deserving person coming as a guest."

अर्थात्—राजा या अन्य सम्मान्य अतिथिके आगमनपर सांड़ अथवा बन्ध्या गाय देनेकी बात ऐतरेय ब्राह्मण ३.४ में भी कही गयी है।

मनुस्मृति ३.११९ का विवेचन पहले 'मनुस्मृति' शीर्षकके अन्तर्गत किया जा चुका है जो बहुत स्पष्ट है, उसमें कहीं भी मांसका नाम नहीं है; गोमांस तो बहुत दूरकी बात रही।

गौतमधर्मसूत्रमें आरम्भसे लेकर जो १७वां अध्याय पड़ता है उसमें अभक्ष्य वस्तुओंका वर्णन है उसमें यह ३०वाँ सूत्र जिसका उल्लेख है, इस प्रकार है—धेन्वनडुहौ च—जिसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि अभक्ष्य वस्तुओंमें धेनु अर्थात् गाय और अनडुह अर्थात् बैल भी अभक्ष्य हैं। इससे मधुपर्कसे मांस या गोमांसका सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

ऐतरेय-ब्राह्मण, अध्याय ३, खण्ड ४ का जो उपर्युक्त उद्धरण पाण्डुरंग वामन काणे महोदयने पाद-टिप्पणीमें दिया है वह १५वाँ गद्य है जिसका पूरा पाठ इस प्रकार है—

अग्निं मन्थन्ति सोमे राजन्यागते तद्यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन्वा हेत्युक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्त एवमेवास्मा तत्क्षदन्तं यदग्निं मन्थन्त्यग्निर्हि देवानां पशुः॥

पहले शतपथ-ब्राह्मणमें इसी सन्दर्भमें आये हुए 'पचेत्' शब्दका याज्ञवल्क्य स्मृतिके इसी सन्दर्भमें आये हुए 'उपकल्पयेत्' पदसे सामञ्जस्य प्रमाणित हो चुका है। अतः ऐतरेय-ब्राह्मणके इसी संदर्भमें आये 'क्षदन्ते' पदका भी उनसे सामञ्जस्य होना सम्भव है या नहीं—इसपर विचार करना है। इसका विस्तृत विवेचन पं० श्रीदीनानाथ शर्मा शास्त्रीने अपने 'श्रीसनातनधर्मालोक' के छठे सुमनके पृष्ठ ३६०-३७४ पर किया है संक्षेपमें उसके कुछ उद्धरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

> अब 'क्षद्' धातुके अर्थ पर विचार करना है। उक्त ब्राह्मण-वचनका यह अर्थ है कि—राजा वा प्रशंसनीय कोई श्रोत्रिय आदि आजावे, तो उसके आतिथ्यमें वृषभ वा गायका क्षदन करे। 'क्षद्' धातु पाणिनिके धातुपाठमें नहीं है; इससे उसका अर्थज्ञान भी उससे नहीं हो सकता; पर **'तृन्-तृचौ शंसि-क्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ'** (२.९४,२५१),—इस उणादि (पञ्चपादी) सूत्रमें उस 'क्षद्' धातुका स्मरण किया गया है; अतः यह सौत्र धातु है—यह स्पष्ट है; पर इसका अर्थ सूत्रसे भी ज्ञात नहीं हो सकता। (३६२)
>
> निघण्टु (२.८) में अत्तिकर्मक (भक्षणार्थक) धातुओंमें 'क्षद्' धातुका प्रयोग बिल्कुल नहीं है—यह याद रख लेनेकी बात है। उसीमें वधकर्मक (२.१९) धातुओंमें भी क्षद् धातुका प्रयोग बिल्कुल नहीं है—यह भी स्मरण रख लेना चाहिये।

अतिथि-सत्कारमें महोक्षं, महाजं अथवा वेहतं

अब ऋग्वेदसंहिताके मन्त्रोंमें 'क्षद्' धातुका प्रयोग और उसमें सायणभाष्य भी देखना चाहिये । अन्य प्राचीन विद्वानोंने भी इस धातुका क्या अर्थ किया है—इसका भी अनुसन्धान करना चाहिये । (३६३)

महाभाष्यका यह वचन भी प्रसिद्ध है—'**अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति। तद्यथा--वपिः प्रकिरणे (वीर्याधाने) दृष्टः, छेदने चापि वर्तते।............करोतिरभूत-प्रादुर्भावे दृष्टौ निर्मलीकरणे चापि वर्तते; निक्षेपणे चापि वर्तते। एवमिहापि तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियामाह, तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियाया निवृत्तिम्**' (१.३.१)—इस प्रकार जब एक ही क्रियाके परस्पर दो विरुद्ध अर्थ भी (जैसे 'स्था' धातुका ठहरना और चलना) हो सकते हैं ; तो औचित्यवश प्रतीयमान हुए धातुके अनादिष्ट अर्थको ले लेना भी व्याकरण-विरुद्ध नहीं। (३६३-३६४)

इस प्रकार 'भक्षण' का अर्थ 'अपने उपयोगमें लाना' 'उसका उपयोग वा स्वीकार करना' अर्थ भी होता है। (३६४)

ऋग्वेद १.२५.१८ मन्त्रमें सायणाचार्यने लिखा है—'**हविः क्षदसे—अश्नासि**' यह भक्षण अर्थ करके फिर '**हविः-स्वीकाराद् ऊर्ध्वम्**' यहाँ अशन (भक्षण) का तात्पर्य 'स्वीकार' भी लिखा है । जबकि 'क्षद्' धातुका अर्थ 'खाना' है ; तो क्या वह अर्थ 'उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते' बह्वृच-ब्राह्मणके पदमें दीखता है ? तब तो फिर यह अर्थ हो जायगा कि—राजा व श्रोत्रियके आने पर वृषभ वा वेहत्को खाते हैं। क्या यह अर्थ यहाँ घट रहा है ? यह अर्थ करने पर अतिथिके भोजनका अर्थ न होकर अतिथि-परिचारकका वेहत्को स्वयं खाना अर्थ हो जायगा । श्रीहरदत्तने अतिथिसे भिन्नको उसका खाना निषिद्ध किया है। यदि 'अशन' का अर्थ 'स्वीकार' कर लिया जाय तब 'गाय-बैलको स्वीकार करते हैं' अर्थात्—'अतिथिके लिये लाते हैं'—यह संगत तात्पर्य निकल सकता है। (३६४-३६५)

जिस क्षद् धातुके प्रयोग प्रदर्शनार्थ उणादिमें बह्वृच-ब्राह्मणका वचन उद्धृत किया, उसमें क्षदन्ते का न तो 'टुकड़े-टुकड़े करना' अर्थ घटता है, न 'खाना' ही। 'टुकड़े-टुकड़े करना' अर्थ तो अत्यन्त अनुचित होगा । (३६५)

'हिंसा' से 'ताड़ना' भी कही जाती है।.........निरुक्त (१.३.२) में 'हस्त' का 'हन्तेः प्राशुर्हनने' यह निर्वचन दिया गया है। यहाँ 'हनन' का अर्थ भी 'ताडन' है, प्राण-वियोजन (मारना) नहीं। क्षत्ता सारथि वा अधिष्ठाताका (अथर्व० ५.१७.१४,९.११.१) नाम भी रथके अश्वके हाँकने वा ताड़नसे है, जानसे मारनेसे नहीं। अतिथिके पास लानेके लिये गाय-बैलको हाँका जाता है, यह उसकी ताड़न हिंसा है। (३६६)

'क्षद्' धातुके—टुकड़े-टुकड़े करना और खाना—इन दो अर्थोंसे भिन्न तीसरे अर्थके बतानेसे सौत्र 'क्षद्' धातुके अन्य अर्थ भी हो सकते हैं—यह सूचित होता है। अब इस विषयमें अन्य विद्वानोंका मत भी देखना चाहिये। (३६६)

'क्षद्म' शब्दके निर्वचनके अवसर पर श्रीस्कन्दस्वामीने लिखा है—**'क्षद स्थैर्ये'** (सौ०)। यही देवराज यज्वाने भी **'स्वकार्ये स्थिरं भवति, जलाशयं व्याप्य स्थिरीभवतीति वा'** (नि० १.१२.३) यह लिखा है। तब यहाँ भी अर्थ होगा कि जब अतिथि आवे तो अतिथिको देनेके लिये गाय-बैलको स्थिर करे। यह अर्थ भी यहाँ संगत हो जाता है। सुबोधिनीकारने जलवाचक 'क्षद्म' में **'क्षद्र गति-हिंसनयोः'** धातु मानी है। **'क्षदति-हिनस्ति पिपासामुष्णतां वा अभीप्सितं वा पुरुषम्'** पर यहाँ अघ्न्याकी हिंसा सम्भव न होनेसे 'गति' अर्थ भी हो सकता है, **'क्षदन्ति अतिथिपार्श्वे गां गमयन्तीति'** यह अर्थ भी यहाँ संगत हो जाता है। अति-ईप्सित पुरुषकी भी हिंसा नहीं हुआ करती, किन्तु 'आनयन' हुआ करता है। (३६७)

'क्षत्ता' पदकी सिद्धिके लिये अमरकोषकी सुधा-व्याख्यामें श्रीभट्टोजिदीक्षितके लड़के श्रीभानुजीदीक्षितने लिखा हैं—**'क्षद्र संवरणे सौत्रः'** (२.८.५९) यहाँ 'क्षद' धातुका 'संवरण' अर्थ किया गया है। यही अर्थ उसने 'क्षत्रियः' (२.८.१) में भी लिखा है। स्वामी दयानन्दने भी अपने उणादि-कोषमें यही अर्थ किया है। (३६७-३६८)

अमरकोषके २.१०.३ पद्यमें श्रीभानुजीदीक्षितने 'क्षत्ता' यहाँ लिखा है—**'क्षदति, क्षदते वा, क्षद सम्भृतौ'**। यहाँपर 'क्षद्' धातुका

'सम्भरण' अर्थ भी सूचित किया है। अघ्न्या (गाय) और अघ्न्य (बैल) की हिंसा असम्भव होनेसे यहाँ गाय-बैलको अतिथिको देनेके लिये पालित करते हैं यह अर्थ भी संगत हो सकता है। उक्त ब्राह्मण-वाक्यमें निमित्त अर्थमें सप्तमी मानी जा सकती है।

इस अनुसन्धानसे सिद्ध हो रहा है कि क्षद् धातुके बहुतसे अर्थ हुआ करते हैं, केवल हिंसा अर्थ, वा भक्षण अर्थ ही नहीं होता। जो अर्थ जहाँ उपयुक्त सिद्ध हो, और किसी सिद्धान्तसे विरुद्ध न पड़े, वहाँ वही अर्थ करना ठीक हुआ करता है, उससे भिन्न अर्थ करना नहीं। यदि **'गङ्गायां घोषः'** में लक्ष्य अर्थ है तो **'गङ्गायां महिषास्तरन्ति'** में पूर्वकी तरह लक्ष्य अर्थ कर देना ठीक नहीं हो जाता जब कि यहाँ कोई अनुपपत्ति नहीं होती। यही बात कुसुमाञ्जलिमें श्रीउदयनाचार्यने कही है—

श्रुतान्वयाद् अनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।
पदार्थान्वय-वैधुर्यात् तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः" (३.१२)।

अर्थात् अन्वितताामें अन्य अर्थकी आकाङ्क्षा नहीं रहती ; अन्वितताामें ही सङ्गत्यर्थ अन्य अर्थ करना पड़ता है। सो अघ्न्याके हननमें अनन्वितता आनेसे ही वह अर्थ न करके अन्य अर्थ सङ्गत्यर्थ देखा-भाला जाता है। (३६८-३६९)

अब इस विषयमें वेदकी तथा उसमें श्रीसायणाचार्यके भाष्यकी एक और साक्षी भी पाठकगण देखें, जिससे हमारा पक्ष स्पष्ट पुष्ट होता है। **'क्षत्ता वामस्य देव ! भूरे'** (ऋग्वेद ६.१३.२) के 'क्षत्ता' में जो 'क्षद्' धातुका ही रूप है—श्रीसायणाचार्य लिखते हैं—"**ऋतस्य उदकस्य यज्ञस्य वा क्षत्ता—क्षदतिरत्र दानकर्मा, दाता भवसि ।**" यहाँ श्रीसायणने स्पष्ट लिखा है कि—'क्षद्' धातुका अर्थ 'दान' भी हुआ करता है। यहाँ विचारणीय है कि श्रीसायणने अपने शब्दोंसे 'हिंसा' अर्थमें प्रसिद्ध भी 'क्षद्' धातुका 'हिंसा' अर्थ न करके उसका 'दान' अर्थ क्यों किया ? स्पष्ट है कि—यहाँ हिंसार्थ समन्वित नहीं होता। अतः 'दान' अर्थ किया गया। यदि ऐसा है, तब उक्त ऐतरेय-ब्राह्मण-वाक्यमें भी अतिथिके आनेपर 'अघ्न्या' एवं 'अघ्न्य' गाय-बैलका भी 'दान' ही अर्थ प्रतिफलित हुआ ; और प्रकृत सिद्ध हुआ : क्योंकि- अघ्न्याकी हिंसामें अनुपपत्ति पड़ती है। क्या यात्राके समयमें

'सैन्धवमानय' का 'नमक लाना' अर्थ समझदारीका होगा, और 'घोड़ेका लाना' नासमझी का?

फलतः उक्त बह्वृच-ब्राह्मणके वाक्यमें **'उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते'** का अर्थ **'वृषभं गां वा ददति'** यही सिद्ध एवं उपपन्न हुआ। ऐसा होनेपर **'महोक्षं या महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्'** (१.५.१९९) इस याज्ञवल्क्य स्मृतिके तथा ऐतरेयके वचनकी एकवाक्यताभी प्रतिफलित हो गयी। 'उपकल्पन' का अर्थ भी दान है।

मिताक्षराने इतने दानमें असम्भवता देखकर उस अतिथिके सत्कारार्थं उसे वाचिक कह देने मात्रका अर्थ कर दिया है। सांडोंके दान-अर्थमें यह असम्भव अवश्य है; क्योंकि इतने श्रोत्रियोंके लिये इतने सांड़ एक पुरुषके पास कैसे होवें? परन्तु यहाँ तो साधारण बैल और साधारण ही गाय कही गयी है, अतः यहाँ दान अर्थमें भी कोई अनुपपत्ति नहीं रहती।

'वेहत' शब्दका विशेष गाय (गर्भ गिरानेवाली) अर्थ भी यहाँ ठीक नहीं, क्योंकि वैसी गौएँ भी साधारण रूपसे नहीं मिलतीं। (३६९-३७०)

इस प्रकार इन प्रसिद्ध प्रमाणोंसे समाधान हो गया कि—**'महोक्षं पचेत्'** में **'व्यक्तीकुर्यात्'** अर्थ है और **'उक्षाणं क्षदन्ते'** का **'वृषभं ददति'** यह अर्थ है। 'क्षद्' धातु यहाँ दानार्थक है। जबकि 'क्षद्' धातुका अर्थ 'दान' भी वेदमें मिलता है, श्रीसायणाचार्यने उसे लिखा भी है, और गोदानकी महिमासे जब सारे वेदादि-शास्त्र भी भरे हुए हैं तब वही अर्थ सभी दृष्टियोंसे ठीक है, संगत भी है। (३७०-३७१)

'क्षद्' धातुमें 'हिंसा' अर्थ वा भक्षणार्थका भ्रम इन विद्वानोंको इसलिये पड़ा कि—धातुपाठमें जहाँ धातुओंके अर्थ लिखे हुए होते हैं वहाँ उन्हें क्षद् धातु तो मिली नहीं, पर **'खद स्थैर्ये हिंसायां च, खाद् भक्षणे'** यह धातु सामने आ गयी; अतः उन्होंने 'क्षद्' धातुका 'खद्' धातु वाला अर्थ कर दिया। पर धातु-पाठमें पठित 'खद्' धातुका जो अर्थ हो; 'ख' के स्थानमें 'क्ष' अक्षरवाली सौत्रधातुका

भी वही अर्थ हो—यह कोई राजाकी आज्ञा नहीं कि मान ली जावे। जबकि 'क्षद्' धातुका अर्थ 'दान' भी मिलता है, और वह अर्थ यहाँ संगत भी है; जबकि शतपथ आदिमें धेन्वनडुहका अशन व हनन निषिद्ध एवं निन्दित किया गया है; जबकि—वेदादिशास्त्रमें गोदानकी महिमा भरी पड़ी है; जबकि शतपथ तथा याज्ञवल्क्य स्मृतिके श्रीयाज्ञवल्क्यमुनि भी मधुपर्कमें गाय-बैलका दान वा प्रकाशन चाहते हैं; जबकि शतपथके १४वें काण्डरूप बृहदारण्यकमें श्रीयाज्ञवल्क्य **'गोकामा एवं वयं स्मः'** (१४.६.१.४, ११.६.३.२) इस प्रकार गौओंको प्राप्त करना चाहते हैं, तब इन सबकी एक वाक्यतासे ऐतरेयब्राह्मणके उक्त-वचनमें भी गाय-बैलका 'क्षदन' दान ही सिद्ध हुआ। (३७१-३७२)

अतिथि-सत्कारमें पाद्य-अर्घ्य आदि द्वारा पूजाके बाद मधुपर्ककी विधि अनेक गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्र ग्रन्थोंमें पायी जाती है जिसके साथ गो-समर्पणका भी विधान देखनेमें आया है। महोक्ष या महाजके समर्पणकी बात केवल याज्ञवल्क्य स्मृति और वशिष्ठधर्मसूत्रमें है, किंतु 'वेहतं' (गर्भ-घातिनी गाय) की बात तो कहीं भी नहीं है। इसका कोई तात्पर्य या लक्ष्य समझमें नहीं आता। शतपथब्राह्मण या ऐतरेय ब्राह्मणमें इसका कोई विधान रूपमें आदेश नहीं है, किन्तु उदाहरणके तौरपर कहा गया है कि मनुष्यके राजाके आगमनपर या श्रोत्रिय ब्राह्मणके आगमनपर जैसे 'महोक्षं वा महाजं वा पचेत्' (शतपथमें), 'उक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्त' (ऐतरेयमें) वैसे ही अतिथि रूप आये हुए सोम राजाके लिये उसके उपयुक्त सत्कार अर्पण करे। इसका अर्थ यह होता है कि याज्ञवल्क्य एवं वशिष्ठके अनुयायी अतिथि-सत्कारमें पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क आदि विधिके साथ महोक्षको या महाजको उपस्थित करते थे। यदि यह बात ठीक हो तो शतपथ-ब्राह्मण या ऐतरेय-ब्राह्मण ग्रन्थका लक्ष्य भी महोक्ष या महाज अर्पण करनेके समान याज्ञवल्क्य-स्मृति अथवा वसिष्ठधर्मसूत्रकी ओर ही सम्भव है, क्योंकि और किसी अन्य ग्रन्थमें ऐसा उल्लेख देखनेमें नहीं आया। तब यह कैसे सम्भव हो सकता है कि शतपथ ब्राह्मणके पचेत् शब्दका और ऐतरेय ब्राह्मणके 'क्षदन्त' शब्दका हिंसापरक अर्थ हो, जबकि याज्ञवल्क्य स्मृति एवं वसिष्ठधर्मसूत्रका अर्थ स्पष्ट रूपसे अहिंसापरक प्रमाणित होता है। अतः जो लोग 'पचेत्' या 'क्षदन्त' का अर्थ हिंसापरक करते हैं वे इसके

पूर्वापर सम्बन्धका विचार किये बिना ही ऐसा करते हैं जो सर्वथा अनुचित बात लगती है।

एक बात और भी विचारणीय है । उक्ष—गर्भाधानमें समर्थ सांड़को कहते हैं। उच्च श्रेणीके गर्भाधानमें समर्थ साँड़ बहुत कम संख्यामें होते हैं । हरएक व्यक्तिके पास ऐसे साँड़ नहीं हुआ करते। इस प्रकारके साँड़ तो एक-एक समुदायमें एक-एक ही हुआ करते हैं । किसी श्रोत्रिय अतिथिको यदि उसके पास वहुत-सी गायें न हों तो ऐसा साँड़ समर्पण करना लेनेवालेके लिये भी वहुत उपयोगी नहीं होगा और देने वाला भी उसको देकर अपनी गायोंके एक समुदायको अनाथ-सा वना देगा । इसलिये अतिथि-सत्कारमें इस प्रकारके गर्भाधानमें समर्थ महा-उक्षके समर्पणके लिये लाये जानेकी बात समझमें नहीं आती, मारनेकी वात तो हो ही नहीं सकती । मनुष्योंके राजाके आनेपर उसके अतिथि-सत्कारके लिये भी महोक्ष लानेकी बात समझमें नहीं आती क्योंकि राजाकी गौशालामें अनेक गायें और उनके अनुपातसे पर्याप्त संख्यामें साँड़ भी होते ही हैं।

यदि यह अर्थ किया जाय कि 'उक्ष' से अभिप्राय भारवाहक बैलका है, तो पहली बात तो यह है कि 'उक्ष' भारवाहक बैलके लिये प्रयोग नहीं होता। भारवाहक बैलके लिये 'अनुडुह' शब्दका प्रयोग होता है । दूसरी बात यह है कि जव तक अतिथिको इतना अधिक और भारी उपहार न दिया जाय कि जिसके ढोकर ले जानेके लिये बैलकी आवश्यकता हो तब तक उस प्रकारके उपहारकी वात भी समझमें नहीं आती । यदि कृषि-कार्यके लिये बैल उपहारमें देनेकी बात हो तो श्रोत्रियको देनेके लिये तो उपयूक्त हो सकती है, किंतु मनुष्योंके राजाको देनेके लिये नहीं।

महा-अजके समर्पणकी बात भी केवल भार ढोनेके लिये ही हो सकती है, वह भी उपयुक्त नहीं लगती।

अत; यहाँ 'महोक्षं वा महाजं वा' वाक्यका कोई आध्यात्मिक अर्थ भी हो सकता है जिसका अभी तक किसी विद्वानने स्पष्टीकरण किया नहीं लगता। विद्वान लोग इसपर विचार करें।

इतनी बात तो निश्चित है कि यहाँ 'महोक्षं वा महाजं वा' का उल्लेख उनकी हिंसा करनेके सम्बन्धमें बिल्कुल नहीं है। जो ऐसा भाव निकालनेका प्रयास करते हैं, वे भूल करते हैं।

'गोघ्नोऽतिथिः' का अर्थ

राजा राजेन्द्रलाल मित्र अपने उल्लिखित अंग्रेजी भाषाके प्राचीन भारतमें गोमांस प्रबन्धके उल्लिखित संस्करणके पृष्ठ ५ पर पंक्ति २०-२४ में Colebrooke महोदयका उद्धरण देते हैं—

> "Colebrooke noticed the subject in his essay on 'the religious ceremonies of the Hindus', in which he says, "it seems to have been anciently the custom to slay a cow on this occasion, (the reception of a guest) and a guest was therecalled GOGHNA or cow-killer".

अर्थात्—कोलब्रुकने अपने 'हिन्दुओंके धार्मिक संस्कार' में बताया है कि अतिथिके स्वागतके अवसरपर गाय मारनेकी प्रथा थी, इसीलिये अतिथिको (गोघ्नोऽतिथिः) गोघ्न—गाय मारनेवाला संज्ञा दी गयी।

'गोघ्न' की व्याख्या की गयी है **'गोर्हयन्ते तस्मै गोघ्नः'**। इस व्याख्यामें मतभेदको गुंजाइश नहीं है। मतभेद है तो 'हन्यते' के अर्थमें है। गोमांस-भक्षणका प्रचार करनेवालोंके लिये इसका यही अर्थ सरल पड़ता है—गौका हत्यारा—गोघ्नः। **'हन'...हिंसागत्योः; गतेस्त्रयोऽर्थाः...ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति**—उनको यह जानकारी होनेपर भी कि 'हन्यते' का मूल 'हन्' धातुके अर्थ वध करना (to kill) के अतिरिक्त गुणा करना (to multiply), गति, ज्ञान, गमन और प्राप्ति (to go, to move, to obtain, to attain, to get) स्पर्श करना (to touch), सम्पर्कमें आना (to come into contact) इत्यादि भी हैं (देखिये मोनियर विलियम तथा वी. एस. आप्टेके संस्कृत-अंग्रेंजी कोश) किन्तु वे इसका विचार करना नहीं चाहते, क्योंकि इससे उनका प्रधान उद्देश्य 'गोमांसके भक्षणका प्रचार' सिद्ध नहीं होता। पूर्व विवेचनोंके अनुसार अतिथि-सत्कारमें मधुपर्कविधिमें जब गोमांस या अन्य प्रकारके मांसकी सम्भावना सिद्ध नहीं होती है, बल्कि गोदानकी सम्भावना सिद्ध होती है तब यह स्पष्ट है कि 'गोघ्नः' के अर्थ...गायको दानमें लेनेके लिये स्पर्श (to touch) करने वाला, गायको दान लेकर अथवा उसका दूध पीनेके लिये उसके सम्पर्कमें आनेवाला (to come into contact) अथवा गायको दानमें लेकर अपनी गायोंकी संख्या वृद्धि करनेवाला (to multiply) इत्यादि ही हो सकते हैं।

आचार्य के धातु पाठ 'हन हिंसा गत्योः' के अनुसार 'हन्' धातु का अर्थ है 'हिंसा और गति'। गति के तीन अर्थ हैं—ज्ञान, गमन ((going, moving) और प्राप्ति (obtaining, attaining, getting)। 'गौर्हन्यते तस्मै गोघ्नः' में भी 'हन्यते' का अर्थ 'गम्यते, प्राप्यते' है।

'मधुपर्कमें गोदान—गोसमर्पण' शीर्षकके अन्तर्गत शास्त्रीय प्रमाणका उल्लेख दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि इसका अर्थ 'गोको दानमें प्राप्त करनेवाला, गौको दानमें लेकर उसके साथ जानेवाला' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

आचार्य पाणिनिका सूत्र 'दाशगोघ्नो सम्प्रदाने'—३.४.७३ से भी स्पष्ट है कि दान और गोघ्न शब्दोंको सम्प्रदान कारकमें निपातनमें निष्पन्न किया जाता है। यदि यहाँ चतुर्थी मात्र ही अभीष्ट होता—अर्थात् अतिथिके उद्देश्य से गायको मारना सूचित करना होता तो 'सम्प्रदाने' न कहकर 'तस्मै'—इस विभक्तिप्रतिस्मक अव्ययका प्रगोग कर देते, ऐसा न करके 'सम्प्रदाने' लिखा है, इससे यहाँ दानार्थकी अभिव्यक्ति ही सूचित होती है। अतः 'गोघ्नोऽतिथिः' का शुद्ध अर्थ है—जिसको गाय दान दी जाय वह व्यक्ति।

ऋग्वेद ओर यजुर्वेदके 'अहिरिव भोगैः' इत्यादि मन्त्रमें 'हस्तघ्न' शब्द आता है जिसका अर्थ मोनियर विलियम संस्कृत-अंग्रेजी कोशमें पृष्ठ १२९५, कालम १ में इस प्रकार दिया हुआ है—

> हस्तघ्न—a kind of hand guard (protecting the hand in archery RV.)
>
> अर्थात् एक प्रकारका हस्त-रक्षक (जो बाण चलानेकी क्रियामें हाथकी रक्षा करता है। ऋग्वेदमें इसका उल्लेख है।)

यदि 'हस्तघ्न' का अर्थ हाथको बचानेवाली चीज हो सकती है तो गोघ्नोऽतिथिः का अर्थ गायकी रक्षा करके पालना करनेवाला अतिथि क्यों नहीं हो सकता ?

'अतिथिनीर्गाः' और 'अतिथिग्व' का अर्थ

अंग्रेजी भाषाकी पुस्तक 'वैदिक काल' के अध्याय १९ 'सामाजिक और आर्थिक स्थिति' शीर्षक प्रवन्धमें 'खाद्य और पेय' उपशीर्षकके अन्तर्गत

'अतिथिनीर्गाः' और 'अतिथिग्व' का अर्थ

पृष्ठ ३९३ की पंक्तियां २०-२२ में वी. एम. आप्टे महोदय अतिथिनीर्गाः (अतिथिनीः+गाः) शब्दका उल्लेख करके बताते हैं कि इसका भाव अतिथिके लिये गाय मारनेका ही है और ऋग्वेद १०.६८.३ का प्रमाण देते हैं।

अंग्रेजी भाषाकी पुस्तक 'वैदिक इण्डेक्स', खण्ड २, पृष्ठ १४५ पर मैकडोनेल्ड और कीथ महोदय भी मांस शीर्षकके अन्तर्गत लिखते हैं—

> "the name *atithigva* probably means 'slaying cows for guests'. (Bloomfield, American Journal of Philology, 17.426; Journal of the American Oriental Society, 16, cxxiv. Cf. *atithinirgah* 'cows fit for guests', RV. x. 68.3)."

अर्थात्—अतिथिग्व संज्ञाका अर्थ भी सम्भवतः अतिथिके लिये गायका कतल करना ही है (अतिथिनीर्गाः—अतिथिके योग्य गाय—ऋग्वेद १०.६८.३)।

प्रोफेसर ब्लूमफील्डने भी 'Journal of the American Oriental Society, Vol.16 (1896) पृष्ठ cxxiv की पंक्ति १२ से पृष्ठ cxxv की पंक्ति ६ तकमें—जो अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटीके दिनांक २९, ३० और ३१ मार्च १८९४ के दिनोंमें न्यूयार्कमें हुए अधिवेशनकी कार्यवाहीका वर्णन है और जो "ग्व" और "ग्विन्" अन्तक वैदिक-शब्दोंपर उस अधिवेशनका १७वां विषय रहा है—इस विषयपर विचार किया है, जिसका उद्धरण नीचे दिया जाता है।

The proper name *atithigva* has, so far as is known, never been translated. Grassmann's *gva* 'going' does not yield appreciable sense.

If we analyze structurally *atithi-gv-a* 'he who has or offers a cow for the guest', 'he who is hospitable', we have a normal compound, normal sense, and a valuable glimpse of Vedic house-practices, known hitherto only in the Brahmanas and Sutras. At the *arghya* ceremony, which is performed on the arrival of an honored guest, the 'preparation' of a cow is the central feature. The technical expression is *gam kurute* : see CGS. ii. 15.1;

AGS.i.24.30.31; PGS.i.3.26.30; Gobh.iv.10.1; APGS.13.15; HGS.i.13.10; ApDhS.ii.4.8.5. In TS.vi.1.10.1 the ceremony goes by the name *go-argha*. There is no reason why this simple and natural practice should not be reflected by the hymns, and it comports with the character of Atithigva as a generous giver: cf. vi.47.22; x.48.8; i.130.7, also similar statements in reference to descendants of Atithigva (*atithigva*) in viii.68.16.17. The adjective *atithin* is a hapax legamenon in RV.x.68.3; it occurs in the expression *atithinir gah*; and, whatever it may mean, it suggests forcibly the proper name in question. The rendering of *atithin* by 'wandering,' as given by the Petersburg lexicons and Grassmann, is based upon the supposed etymology (root *at* 'wander'), and reflects the vagueness usual with such interpretations. Ludwig's translation (972). "wie gaste kommend" is a compromise between the etymology and the ordinary meaning of *atithi*. The passage in questions reads: 'Brihaspati has divided out like barley from bushels the (rain-) cows propitious to the pious, fit for guests (*atithin*), strong, desirable, beautiful in color, faultless in form, after having conquered them from the clouds.' The proper name *atithi-gv-a* means therefore precisely one who has *atithinir gah*.

अर्थात्—जहाँ तक पता है, व्यक्तिवाचक नाम 'अतिथिग्व' का कभी अनुवाद नहीं किया गया। (जर्मन विद्वान्) ग्रासमानने 'ग्व' का 'जानेवाला' जो अनुवाद किया है उससे कोई समुचित अर्थ नहीं निकलता।

यदि शब्द-रचनाकी दृष्टिसे हम 'अतिथि-ग्व्-अ' विश्लेषण करें तो उसका अर्थ होगा 'जिसके पास अतिथिके लिये गाय है' अथवा 'जो अतिथिको गाय देता है', 'वह जो आतिथ्य करता है'। इस प्रकारके निर्वचनसे समुचित समास होता है, समुचित अर्थ होता है और वैदिक कालीन गृह्यसंस्कारोंकी महत्त्वपूर्ण झाँकी मिलती है जो कि अभी तक ब्राह्मण-ग्रंथों और सूत्र-ग्रंथोंसे ही प्राप्त होती थी। सम्मानित अतिथिके आनेपर जो अर्घ्य द्वारा सत्कार होता है, उसमें गायकी सज्जा (preparation) प्रमुख कर्म है। इसके लिये पारिभाषिक शब्द है 'गां कुरुते', देखिये शांखायन-गृह्यसूत्र २.१५.१; आश्वलायन गृह्यसूत्र १.२४.३०,३१; पारस्करगृह्यसूत्र १.३.२६.३०; गोभिल ४.१.१०;

आपस्तम्बगृह्यसूत्र १३.१५; हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र १.१३.१०; आपस्तम्बधर्मसूत्र २.४.८.५। तैत्तिरीयसंहिता ६.१.१०.१ में इस सत्कारका नाम 'गो-अर्घ' है। कोई कारण नहीं कि यह सीधा-सादा और स्वाभाविक संस्कार, सूक्तोंमें प्रतिविम्बित न हो, जबकि यह 'अतिथिग्व' (नामक व्यक्तिविशेष) के उदार दानशील स्वभावसे सुसंगत है—ऋग्वेद ६.४७.२२, १०.४८.८, १.१३०.७ देखिये और अतिथिग्वके वंशजों (आतिथिग्व) के विषयमें भी यही आशय ऋग्वेद ८.६८.१६, १७ में मिलता है। संज्ञाविशेषण 'अतिथिन्' समूचे ऋग्वेद में केवल एक बार ही १०.६८.३ में आया है। यह वाक्यांश 'अतिथिनीर् गाः' में आता है। और इसका जो भी अर्थ हो, इससे व्यक्तिविशिष्टके नामका प्रबल आभास होता है। दोनों पीटर्सबुर्ग कोशोंने और ग्रासमानने 'अतिथिन्' का 'घूमनेवाला' जो अर्थ किया है वह कल्पित व्युत्पत्ति (√ अत् 'घूमना') पर आधारित है, और जैसाकि इस प्रकारके निर्वचनोंमें हुआ करता है, यह अस्पष्ट है। (जर्मन विद्वान्) लुड्विक् (९७२) ने इसका अनुवाद 'जैसे अतिथि आते हैं' करके व्युत्पत्तिगत अर्थ (√ अत् 'घूमना') और अतिथि शब्दके सामान्य अर्थमें समन्वय किया है। विचाराधीन वाक्य (ऋग्वेद १०.६८.३) का अर्थ है—

> पुण्यवन्तोंके लिये मंगलमयी—propitious to the pious (साध्वर्याः), अतिथियोंके योग्य—fit for the guests (अतिथिनीः), शक्तिशालिनी—strong (इषिराः), स्पृहणीय—desirable (स्पार्हाः), सुवर्णा—beautiful in color (सुवर्णाः), रूपमें अनवद्य—faultless in form (अनवद्यरूपाः), (वर्षा-रूपिणी) गायोंको—(rain) cows (गाः), बृहस्पतिने (बृहस्पतिः), मेघोंसे—from the clouds (पर्वतेभ्यः), जीतकर—having conquered (वितूर्य), विभाजित किया है—has divided out (निर्—ऊपे), जैसे—like (इव), पात्रोंसे—from bushels (स्थिविभ्यः), जौको—barley (यवम्)। अतः व्यक्तिवाचक नाम 'अतिथि-ग्व-अ' का ठीक अर्थ है 'वह जिसके पास (अतिथियोंके योग्य गायें) अतिथिनीर् गाः है'।

प्रो० ब्लूमफील्ड ने अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटीकी पत्रिकामें 'अर्घ्य-की प्रथामें' 'preparation of a cow' के लिये पारिभाषिक शब्द 'गां कुरुते' बताकर कई सूत्र-ग्रन्थोंके सूत्रोंकी ओर संकेत किया है। उन सूत्रोंमें 'गां कुरुते' वाक्य नहीं दिखाई दिये। हो सकता है "गां कुरुते" की

गृह्यसूत्रोंकी संख्या लिखनेमें या मुद्रणमें भूल हो गयी हो या 'गां कुरुते' की जगह दूसरे शब्द हों—'जैसे आश्वलायनगृह्यसूत्र १.२४.२३ में 'आचान्तोदकाय गां वेदयन्ते', गोभिलगृह्यसूत्र ४.१०.१९ में 'मुञ्च गां वरुणपाशाद्‌द्विषन्तं मेऽभिधेहि' एवं ४.१०.२२ में 'कुरुतेत्यधियज्ञम्', आपस्तम्बीयधर्मसूत्र २.४.८.५ में 'गोमधुपर्कोर्हो वेदाध्यायः' वाक्य मिलते हैं किन्तु उनमेंसे कुछ सूत्रोंमें मधुपर्कमें मांसका आभास मिलता है, जिनका विवेचन पहले 'पारस्कर-गृह्यसूत्र' और 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' शीर्षकोंके अन्तर्गत किया जा चुका है।

प्रो० ब्लूमफील्डने अतिथिग्व व्यक्ति-विशेषका नाम बताया है जिसको उदार, दानशील स्वभाव (generous giver) शब्दों द्वारा विशेषण दिया है और ऋग्वेद ६.४७.२२ (६.४.४.२२), १०.४८.८ (१०.४.६.८) और १.१३०.७ (१.१९.४.७) का प्रमाण दिया है। इन मंत्रोंके अर्थ ग्रिफिथ और विल्सन महोदयों द्वारा भी व्यक्तिविशेषके नामवाचक ही किये गये हैं, गोहत्यारा नहीं। उनके अर्थ नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

RV. 6.47.22 (6.4.4.22)

Griffith : Out of the bounty, Indra, hath Prastoka bestowed ten coffers and ten mettled horses.

We have received in turn from Divodasa Sambara's wealth, the gift of Atithigva.

Wilson : *Prastoka* has given to thy worshipper, *Indra*, ten purses of gold, and ten horses, and we have accepted this treasure from *Divodasa*, the spoil won by *Atithigvan* from *Shambara*.

RV.10.48.8. (10.4.6.8)

Griffith : Against the Gungus I made *Atithigva* strong, and kept him mid the folk like Vritra-conquering strength. When I won glory in the great foe-slaying fight, in battle where *Karanja* fell, and *Parnaya*.

Wilson : I prepared *Atithigva* for (the protection of) the Gungus, I upheld him, the destroyer of enemies, as sustenance amongst the people ; when I gained renown in the great Vritra-battle, in which *Parnaya* and *Karanja* were slain.

RV.1.130.7 (1.19.4.7)

Griffith : For *Puru* thou hast shattered, *Indra*, ninety forts, for *Divodasa* thy boon servant with thy bolt, O Dancer, for thy worshipper.

For *Atithigva* he, the Strong, brought *Sambara* from the mountain down,

Distributing the mighty treasure with his strength, parting all treasures with his strength.

Wilson : For *Puru*, the giver of offerings, for the mighty *Divodasa*, thou, *Indra* the dancer (with delight in battle), hast destroyed ninety cities, dancer (in battle), thou hast destroyed them with (thy thunderbolt), for (the sake of) the giver of offerings. For (the sake of) *Atithigva*, the fierce (*Indra*) hurled *Shambara* from off the mountain bestowing (upon the prince) immense treasure, (acquired) by (his) prowess ; all kinds of wealth (acquired) by (his) prowess.

'अतिथिग्व' शब्दका अर्थ मोनियर मोनियर-विलियम्स के संस्कृत-अंग्रेजी कोशमें इस प्रकार दिया है—

'To whom guests should go—जिसके पास अतिथिको जाना चाहिये' । इस एक अर्थके अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं दिया गया है । इस अर्थमें कहीं भी गोहत्याकी गन्ध भी नहीं दीखती । अतएव 'अतिथिग्व' संज्ञा का अर्थ अतिथिके लिये गोहत्या करना या गोहत्या करानेवाला अतिथि कदापि नहीं हो सकता ।

भारतीय विद्याभवनके अध्यक्ष श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शीने अपनी पुस्तक 'लोपामुद्रा' में पृष्ठ ३४, पंक्ति १६-१७ में 'अतिथिग्व' व्यक्ति

विशेषका नाम मानकर भी उसका अर्थ किया है 'अतिथियोंको गोमांस परोसनेवाला' जबकि ब्लूमफील्डने उसका विश्लेषण करके अर्थ किया है 'जिसके पास अतिथिके लिये गाय है' अथवा 'जो अतिथिको गाय देता है' और मोनियर विलियम्सने अपने कोषमें अर्थ किया है 'to whom guests should go'। श्री मुन्शीजीने 'अतिथिके लिये गोमांस परोसनेवाला' अर्थ करनेमें न तो 'अतिथिग्व' का कोई विश्लेषण दिया और न अपने कथानकमें 'अतिथिग्व' नामक व्यक्तिके द्वारा गोमांस परोसनेका कार्य दिखाया है। जब श्री मुंशीजी जैसे गण्यमान्य नेता ऐसा भाव प्रकाशित करें तो साधारण जनोंको भ्रम होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

'अतिथिग्व' और 'अतिथिनीर्गाः' शब्दोंमें 'गोहत्याका भाव' माननेवालोंका स्पष्ट दुराग्रह है और इसका मूल मैकडोनेल्ड, कीथ आदि पश्चिमी विद्वानोंकी वह कल्पना है जिससे वे आर्योंको असभ्य सिद्ध कर सकनेका प्रयत्न करते हैं।

'अतिथिनीर्गाः' (अतिथिनीः+गाः) के लिये ऋग्वेद १०.६८.३ का उल्लेख है जिसके अर्थका स्पष्टीकरण अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटीने अपनी पत्रिकामें भी दिया है। मूल मन्त्र इस प्रकार है

साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः॥
(ऋग्वेद १०.६८.३)

इस मन्त्रका अंग्रेजी अनुवाद H.H. Wilson महोदयने इस प्रकार किया है—

"Brihaspati brings unto (the gods), after extricating them from the mountains, the cows that are the yielders of pure (milk), ever in motion, the objects of search and of desire, well-coloured and of unexceptionable form, (as men bring) barley from the granaries." (RV.x.5.8.3.)

और Ralph T. H. Griffith महोदयने इस प्रकार किया है—

"Brihaspati, having won them from the mountains, strewed down, like barley out of winnowing-baskets,

The vigorous, wandering cows who aid the pious, desired of all, of blameless form, well-coloured."

इन दोनों अंग्रेजी भाषाकी टीकाओंमें कहीं भी ऋग्वेदके उपर्युक्त मन्त्रके ऐसे अर्थका आभास नहीं होता जो 'अतिथिनीः' और 'गाः' पदोंका अर्थ 'गायके नाश करानेवाले अतिथि' का द्योतक हो एवं अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटीकी पत्रिकाके विवेचनसे 'अतिथिग्व' और 'अतिथिनीर्गाः' शब्दोंके अर्थमें कहीं भी गोहिंसाकी गन्ध नहीं दीखती, बल्कि ये शब्द भी व्यक्तिविशेष-के नामवाचक बताये गये हैं (It suggests the proper name in question.)

'अतिथिनी' शब्द 'मत्वर्थ' में 'इनी' प्रत्ययसे ही बन सकता है। 'मतुप्' प्रत्ययका अर्थ 'अतिथिवाली', 'अतिथि जिसके हैं', 'अतिथि जिसके लिये आवें,' 'अतिथियोंके काम आनेवाली', इत्यादि ही हो सकते हैं और गाय अपने दूध, दही, घी आदिसे ही अतिथियोंके काम आ सकती है। यदि कहें कि मांससे भी काम आ सकती है तो एक बार आये हुए अतिथिके ही काम आयेगी। फिर प्रत्येक बार आनेवाले अतिथिके लिये साधारण स्थितिके व्यक्तिके लिये प्रत्येक बार नयी गाय मारकर देना सर्वथा असम्भव हो जायगा। अतिथि-सत्कार साधारण स्थितिके व्यक्तिके लिये भी उतना ही आवश्यकीय है जितना कि सम्पन्न व्यक्तिके लिये। अतः सब प्रकारकी परिस्थितिमें 'अतिथिनी' शब्द का अर्थ—अतिथियोंका घी, दूध, दही आदिसे सत्कार करनेवाला—ही ठीक होगा।

मधुपर्कमें मांस-मिश्रणमें कलात्मक बाधा

स्वर्गीय पं० श्रीपाददामोदर सातवलेकरने गो-ज्ञान-कोश, प्राचीन खण्ड—वैदिक विभाग, प्रथम खण्डमें मधुपर्कके प्रकरणमें लिखा है—

> हमें स्वयं इस बातका पूरा पता नहीं है क्योंकि हमारे घरानेमें किसीने भी कभी मांसका स्वाद लिया नहीं है, केवल शाकभोज ही हम करते हैं। तथापि हमने अपने मांसाहारी परिचितोंसे मालूम किया जिससे हमें पता लगा कि मांसका कोई पदार्थ मधु (शहद) या

मिश्रीसे बनता नहीं। जो भी पदार्थ मांससे बनते हैं, सबके सब नमकीन तथा मिरच-मसालेवाले बनते हैं। यदि यह सत्य बात है तो मधुपर्क मांसके साथ कैसे बन सकता है? क्योंकि यह मधुपर्क है अर्थात् (मधु) शहदसे (पर्क) मिश्रित मीठा खाद्य है। शहद या मिश्रीसे मिश्रित करके मांसका कोई पदार्थ बनता नहीं है, मांसका मिश्रण नमकीन मिर्च-मसालोंके साथ बनता है।

इसकी सत्यताकी जाँच करनेके लिये इस विषयके प्रशिक्षण संस्थान एवं होटल वालोंको लिखकर पूछा गया था। उनके जो उत्तर आये, वे पाठकोंके सामने रक्खे जाते हैं—

Institute of Hotel Management, Catering and Nutrition (होटल-व्यवस्था, खान-पान-प्रबन्ध तथा पोषण-पदार्थोंका प्रशिक्षण संस्थान), पूसा, नयी दिल्ली-१२ ने अपने पत्र संख्या ICT/PA/2/69/192 दिनांक २९-१-१९६९ में लिखा है—

> "No popular or famous dishes have been prepared so far out of meat and sugar in classical French, Indian or English cookery. Of course, this does not mean that the sweet meat preparations cannot be prepared, but the problem that has to be faced is the consumers' acceptibility and market potentiality."

अर्थात्—फ्रांसीसी, भारतीय या अंग्रेजीकी उत्कृष्ट-चिरप्रतिष्ठित (classical) पाक-विद्या (cookery) में अभी तक मांस और चीनीसे कोई लोकप्रिय (popular) या प्रसिद्ध (famous) व्यंजन (dishes) बनाया नहीं गया है। तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि मीठा-मांस नहीं बनाया जा सकता, लेकिन इसमें उपभोक्ताओं (consumers) की और बिक्री-सम्भाव्यता (market potentiality) की समस्या का सामना करना पड़ेगा।

इससे स्पष्ट है कि मांसयुक्त मिठाई नहीं बनती, कदाचित् बनायी जाय तो खानेवाले उपभोक्ता उसको पसन्द नहीं करेंगे और उसकी बिक्रीमें कठिनाईका सामना करना पड़ेगा।

Hotel Oberoi Intercontinental, Wellesley Road, New Delhi-11 ने अपने पत्र दिनांक ११-२-१९६९ में लिखा है—

"I would like to point out that no sweet meat preparations are made by us and whatsoever no meat is used for our dessert preparations."

अर्थात्—मैं यह बता देना चाहता हूँ कि हम मीठे माँसका कोई पदार्थ नहीं बनाते; भोजनके अन्तमें दिये जानेवाले मीठे व्यंजनमें भी किसी प्रकारका मांस नहीं मिलाया जाता।

इससे भी स्पष्ट है, मांसयुक्त मिठाई नहीं बनती, किसी मीठे व्यंजनमें मांस नहीं मिलाया जाता, मांसयुक्त पदार्थ नमकीन मसालेदार बनते हैं। सम्माननीय अतिथिको प्रिय लगनेवाली उच्चकोटिकी वस्तु खिलाकर ही उसका सत्कार-मनोरंजन किया जाता है। जब उच्चकोटिकी पाक-विद्यामें मीठेसे संयुक्त मांसका लोकप्रिय व्यंजन बनता ही नहीं, तब यह कैसे सम्भव है कि सम्माननीय अतिथिके मधुपर्क द्वारा स्वागत-सत्कारमें मधुपर्कमें मांस मिलाया जाय।

कुछ लोग नमकीन मसालेदार साग-सब्जियोंमें भी कुछ चीनी मिलाकर खाते हैं, लेकिन इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उच्च श्रेणीकी साग-सब्जी मीठी बनती है। केवल मीठेके संयोगसे बनी साग-सब्जी तो किसीको भी अच्छी और स्वादिष्ट नहीं लगेगी। इसी तरह नमकयुक्त मसालेदार मांस व्यंजनोंमें कोई थोड़ा मीठा डाल भी ले तो उससे उच्च श्रेणीकी मांसकी मिठाई प्रमाणित नहीं होती। मधुपर्ककी सामग्रीमें नमक और मसालोंका कोई उल्लेख नहीं है। ऐसी हालतमें मधुपर्कमें मांसका मिश्रण, बिना नमक-मसालेका मीठा मांस-व्यंजन होगा, जो अभी तक तो कहीं प्रचलित देखने-सुननेमें नहीं आया। फिर समझमें नहीं आता कि मधुपर्कमें मांसका मिश्रण सम्माननीय अतिथिको कैसे रुचिकर होगा और स्वादिष्ट लगेगा। इन सब बातोंको गम्भीरतासे विचारा जाय तो मधुपर्कमें मांसका मिश्रण असम्भव बात है।

साइबेरियामें मधुपर्क-प्रथा

सरस्वती विहार, नयी दिल्लीके निदेशक एवं सुप्रसिद्ध स्वर्गीय आचार्य श्रीरघुवीरजीके सुपुत्र डा० श्रीलोकेशचन्द्रजीने मधुपर्कके अपने अनुभवका एक वर्णन दिया है जो उन्हींके शब्दोंमें आगे उद्धत है—

"पूर्वी साइबेरियाके हृदयमें आगिंस्की विहार है जो असंख्य पांडुलिपियों और अनुपम विद्वत्ताके केन्द्रके रूपमें विख्यात रहा है। १९३० के लगभग तक यहाँ भारतके नालन्दा विश्वविद्यालयकी आध्यात्मिक और पाठ्यगत परम्पराएँ सुरक्षित थीं। अनेक वर्षोंकी उत्कट इच्छाके पश्चात् १४।१५ जून १९६७ की मध्यरात्रिको हम इस आगिंस्की विहारमें पहुँचे। शिविरदेशकी संस्कृति और उसकी गहन भारत-अनुप्राणित परम्पराओंमें जिस किसीकी भी रुचि है उसके लिये यह स्वप्नवत् जगत् है। जीवनमें प्रथम बार यहाँ हमारा स्वागत मधुपर्कसे हुआ। इस मधुपर्कमें दही, दूध और मधु था। यह चांदीके चमचोंसे चांदीके पात्रसे हमने ग्रहण किया।"

इससे स्पष्ट है कि रशियन-साइबेरियाके मांसाहारी लोग तक भी मधुपर्कमें मांस नहीं मिलाते। अतः यह निःसन्देह सत्य है कि मधुपर्कमें किसी प्रकारके मांसको सम्भावना नहीं है और 'मधुपर्क मांस-विहीन नहीं होता'—यह वात निराधार और मिथ्या है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि मधुपर्कमें मांस मिलानेकी कोई सम्भावना नहीं है। आतिथ्य-सत्कारकी विधिमें समयाभावके कारण पायस बनाकर मिलानेकी भी सम्भावना कम लगती है। मधुपर्कमें दूध, दही, घृतके अतिरिक्त सत्तु (भुंजे हुए अनाजके दाने पीसकर बनाया हुआ आटा) मिलानेकी सम्भावना हो सकती है, जैसा कि बोधायनगृह्यसूत्र (**अशक्तौ पिष्टान्नं संसिद्धयेत** १.२.५४) में एवं हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र १.१२.१० में वर्णन है। आजकल भी बिहार और उत्तर-प्रदेशके देहातोंमें दूरसे चलकर आये हुए अतिथिको गरमीकी ऋतुमें मीठेके साथ जलमें सत्तु घोलकर पिलानेकी प्रथा देखनेमें आती है।

क्या वैदिक-कालमें गोहिंसा, मांसपरक यज्ञ और मांस-भक्षण प्रचलित थे ?

प्रचारके द्वारा बहुतसे लोगोंके मनमें ऐसी मान्यता बैठा दी गयी है कि वैदिक कालमें यज्ञोंमें हिंसा होती थी और गोहिंसा भी होती थी तथा गोमांस एवं अन्य मांस साधारणतया खाये जाते थे, अहिंसाका एकान्तिक वर्जन तो बौद्ध और जैन कालमें हुआ। यह ठीक है कि बौद्ध और जैन कालके पूर्व भ्रमके कारण लोगोंमें हिंसाकी प्रवृत्ति पर्याप्त रूपमें प्रचलित हो चुकी थी, किन्तु वैदिक कालमें यज्ञोंमें हिंसा होती थी या मांस-भक्षणका प्रचलन था—यह बात सर्वथा मिथ्या है। बहुत-से लोगोंकी ऐसी मान्यता है कि वेदोंमें गायको अघ्न्या माना गया है, लेकिन अन्य जीवोंकी हिंसाका वर्जन वेदमें नहीं है और यज्ञोंमें जीवोंकी हिंसा होती थी—यह भी मिथ्या धारणा है।

वैदिक-कालमें गौका कितना सम्मान था—इसका विस्तृत विवरण स्वर्गीय श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा सम्पादित 'गो-ज्ञान-कोश' (प्रकाशक—स्वाध्याय मंडल, आनंदाश्रम, पो॰ पारडी, जिला बलसार, गुजरात) में एवं पं॰ दीनानाथजी शर्मा शास्त्री द्वारा लिखित 'श्रीसनातन-धर्मालोक' में तथा श्री धर्मदेव विद्यावाचस्पतिके 'वेदोंका यथार्थ स्वरूप' (प्रकाशक—गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय) में दिया हुआ है। उनके कुछ सम्बद्ध उद्धरण यहाँ दिये जा रहे हैं जिनसे यह भली प्रकार प्रमाणित हो जाता है कि प्राचीन वैदिक-कालमें न तो गोवध होता था, न गोमांस-भक्षण और न अन्य जीवोंकी हिंसा या मांसभक्षण प्रचलित थे। जिनको और विस्तृत जानकारी करनी हो वे 'गो-ज्ञान-कोश' 'सनातनधर्मालोक' एवं 'वेदोंका यथार्थ स्वरूप' ग्रंथ मंगाकर अध्ययन करें।

गायकी अवध्यता

वेदमंत्रोंका मनन करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गौ अवध्य है। यह अनेक प्रकारोंसे वेद-मंत्रोंमें कहा गया है। वेदमें 'गौ और बैल'

का नाम ही 'अघ्न्य' है। इसका अर्थ 'अवध्य' है। नाम ही जिसका 'अवध्य' अर्थवाला हो उसको काटना अथवा उसका वध करना असम्भव है। वेदके पद अर्थवान् होते हैं, सार्थ होते हैं और अन्वर्थक होते हैं। इसलिये जिसका नाम 'अघ्न्या' हो, उसका वध वैदिक कालमें होना असम्भव है। और वध हुए बिना गोमांसका यज्ञमें हवन तो नितान्त असम्भव ही है। जो 'गोमेध' में गौका वध और गोमांसके हवनकी कल्पना मानते हैं, वे सब निराधार बातें हैं।

इसी तरह 'गौ' पदके अर्थ गौ, दूध, दही, मक्खन, छाछ, घी, मूत्र, गोबर, गो-चर्म, गौके बाल, गौकी हड्डी आदि अनेक होते हैं। मुख्यतः 'दूध' के तथा 'घी' के अर्थ में वेदका 'गौ' पद प्रयुक्त होता है। यह बात विशेष ध्यानमें धरने योग्य है।

गोभिः श्रीणीत मत्सरं। (ऋग्वेद ९.४६.४)

इस मंत्रका शब्दशः अर्थ '(गोभिः) गौओंके साथ (मत्सरं) सोमको (श्रीणीत) मिलाओ' है। यहाँ सम्पूर्ण गौके साथ सम्पूर्ण सोमको मिलाओ, ऐसा भाव शब्दोंसे प्रकट होता है। परन्तु यहाँ 'गौके दूधके साथ सोमके रसको मिलाओ' ऐसा अर्थ है। यहाँ अंशके लिये पूर्णका प्रयोग किया गया है। गौका अंश दूध है और सोमका अंश है उसका रस, इन दोनोंका मिलान ही यहाँ अभीष्ट है। वैदिक भाषाका यह ऐसा मुहावरा है। यह भाषाकी पद्धति समझमें आ जाय तो किसी प्रकारकी कोई शंका नहीं रह सकती।

फिर इस मन्त्रमें 'गौ' शब्दका अर्थ यदि गायका दूध न करके सीधा 'गायके साथ सोमको मिलाओ'—ऐसा करें तो इससे अर्थकी संगति किसी भी प्रकारसे नहीं बैठ सकती, क्योंकि गायके साथ सोमको किसी भी तरह मिलाया ही नहीं जा सकता। गाय लम्बी-चौड़ी पशु जातिकी एक वस्तु और सोम एक लताका रस। उन दोनोंको कैसे मिलाया जा सकता है? न जीवित गायके साथ सोमको मिलाया जा सकता है और न मरी हुई सम्पूर्ण गायके साथ सोमको मिलाया जा सकता है। इसपर भी गोहत्या और गोमांसके पक्षपाती यदि कहें कि 'गायको मारकर उसके मांसके साथ सोमको मिलाया जा सकता है' तो फिर 'गौ' शब्दका असली अर्थ जो गाय है उसे छोड़कर 'गोमांस' यह गौण अर्थ लक्षणावृत्तिसे ही उसे करना पड़ेगा। ऐसी स्थितिमें

जब 'गौ' शब्दका असली अर्थ 'गाय' को छोड़कर गौण अर्थ 'गोमांस' तक दौड़ लगाना अनिवार्य हो गया तो ऐसी अनिवार्यतामें 'गौ' शब्दका 'गो-दुग्ध' अर्थ ही क्यों न लगाया जाय जिससे कि उसके साथ सोमका मिलाना भी आसानीसे हो जाय ? 'गोमांस' अर्थ करने वालोंको 'मरी गायका मांस'—इतनी दूर तक जाना पड़ेगा, उसकी अपेक्षा हमें 'जीवित गायका दूध' ऐसा अर्थ करना सरल और सुन्दर होगा। कारण, लक्षणों द्वारा गौण अर्थ जितना नजदीक होवे उतना ही अच्छा होता है—यह सिद्धान्त है।

वेदका महासिद्धान्त

वेदका महासिद्धान्त सम्पूर्ण भूतोंको मित्रदृष्टिसे देखना है, इसलिये हम कह सकते हैं कि जो सम्पूर्ण प्राणियोंको मित्रकी प्रेमदृष्टिसे देखते हैं वे अपने पेटके लिये उनका घात कैसे कर सकते हैं ? मित्रकी प्रेमदृष्टि तो अपना प्राण दूसरोंके लिये अर्पण करायेगी; कभी ऐसा नहीं हो सकता है कि जिसपर प्रेम करना है उसीको अपने पेटके लिये काटा जाए। देखिये वेदके महासिद्धान्त—

१. मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्,
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे,
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे,

(वाजसनेयिसंहिता ३६।१८)

मित्रकी दृष्टिसे मुझे सब प्राणी देखें,
मैं मित्रकी दृष्टिसे सब प्राणियोंको देखता हूँ,
हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखेंगे।

२. मित्रस्य वश्चक्षुषा समीक्षध्वम्—(मैत्रायणीसंहिता ४.९.२७)
मित्रकी समान दृष्टिसे सबको देखो।

३. प्रियः पशूनां भूयासम्—(अथर्ववेद १७.१.४)
मैं सब पशुओंका प्यारा बनूँ।

४. दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्तां मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। (यजुर्वेद ३६.१८)

अर्थात्—(दृते) हे समस्त दुःखों और अज्ञानोंके विदारक! (मा दृंह) मुझे दृढ़कर। (मा) मुझको (सर्वाणि भूतानि) समस्त प्राणी (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र-दृष्टिसे देखें, और (अहम्) मैं भी (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियोंको (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र-दृष्टिसे (समीक्षे) देखूं। हम सब (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र-दृष्टिसे (समीक्षामहे) एक दूसरेके प्रति भली प्रकार देखा करें।

यह वेदाज्ञा है। यहाँ केवल मनुष्योंको ही मित्र-दृष्टिसे देखनेका उपदेश नहीं है प्रत्युत सम्पूर्ण प्राणिमात्रको मित्रदृष्टिसे देखनेका उपदेश है। तो क्या अपने मित्रको ही अपने पेटके लिये मारना है? यदि मारना है तो मित्रदृष्टि किस कामकी? अर्थात् सब भूतों अथवा सब प्राणियोंको मित्र-दृष्टिसे देखनेवाले इस वैदिक महासिद्धान्तको माननेवाले वैदिक लोग उनको काटकर खानेकी बातको कभी सोच भी नहीं सकते। इसलिये मानना पड़ेगा कि किसी बाह्य कारणसे आर्यवंशजोंमें मांसभोजन घुसा है। आर्योंका स्वाभाविक अन्न शाकाहार ही है।

श्रीमद्भागवत महापुराणमें भी ऐसा ही वर्णन मिलता है—

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत्॥ (७.१४.९)

अर्थात्—हरिण, ऊँट, गधा, बन्दर, चूहा, सरीसृप (रेंगकर चलनेवाले प्राणी), पक्षी और मक्खी आदिको अपने पुत्रके समान ही समझें; उनमें और पुत्रोंमें अन्तर ही कितना है?

वेदमें अहिंसा

वेदमें केवल गायकी ही अहिंसा नहीं लिखी है, परन्तु सर्वसाधारण द्विपाद-चतुष्पादोंकी भी अहिंसा लिखी है। सब भूतोंको मित्रदृष्टिसे देखनेका

वेदका महासिद्धांत है। उसके साथ निम्नलिखित प्रमाणोंका विचार कीजिये—

यजमानस्य पशून् पाहि ॥ यजुर्वेद १.१ ॥
मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः ॥ यजुर्वेद १२.३२ ॥
अश्वं···मा हिंसीः··· ॥ यजुर्वेद १२.४२ ॥
अविं···मा हिंसीः··· ॥ यजुर्वेद १२.४४ ॥
इमं मा हिंसीर्द्विपदं पशुम् ॥ यजुर्वेद १२.४७ ॥
इमं मा हिंसीः···वाजिनम् ॥ यजुर्वेद १२.४८ ॥
इममूर्णायुं···मा हिंसीः ॥ यजुर्वेद १३.५० ॥
मा हिंसीः पुरुषम् ॥ यजुर्वेद १६.३ ॥
मा···हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥ अथर्ववेद ११.२.१ ॥

घोड़ा, बकरा, द्विपाद-चतुष्पाद पशु, ऊन देनेवाला तथा पुरुष—अपने प्रजावर्गमेंसे किसीकी भी हिंसा न कर। ये मन्त्र, मित्रदृष्टिवाले मन्त्रोंके साथ पढ़नेसे, वेदका अहिंसापूर्ण उपदेश स्पष्ट सामने आ जायगा। सर्वसाधारण प्राणियोंको मित्रदृष्टिसे देखो और इन प्राणियोंकी हिंसा तो कभी भी न करो, यह वेदका उपदेश मनुष्योंके लिये है। इतना होते हुए भी कई यूरोपीयन समझते हैं कि वेदमें अहिंसाका तत्त्व वैसा उत्कट नहीं है जैसा आगे बढ़ गया है।

पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पतिने अपनी पुस्तक 'वेदोंका यथार्थ स्वरूप' (प्रकाशक—गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार) में वेदोंमें अहिंसाके सम्बन्धमें पृष्ठ ४९८-४९९ पर सुन्दर विवेचन किया है, जिसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः ॥ (यजुर्वेद १२.३२)

अर्थात्—(बृहद्भिः भानुभिः) तू महान् ज्ञान किरणोंसे प्रकाशित हो और (तन्वा) अपने शरीरसे (प्रजाः मा हिंसीः) प्राणियोंकी हिंसा मत कर।

ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति।
पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति ॥
(अथर्ववेद १९.४८.५)

अर्थात्—जो धर्मात्मा रात्रिमें ध्यानादियोगाभ्यास करते हैं, सब प्राणियोंके विषयमें जो सदा सावधान रहते हैं; **जो सब पशुओंकी रक्षा करते** हैं, वे हमारी आत्माओंकी उन्नतिके विषयमें भी जागरूक रहते हैं। वे इस बातका सदा ध्यान रखते हैं कि **किसी पशुको हमारे व्यवहारसे कष्ट न पहुँचे।**

प्रियः पशूनां भूयासम्। (अथर्ववेद १७.४)

अर्थात्—मैं पशुओंका प्यारा बनूँ। जो पशुओंकी रक्षा करता है और उन्हें प्रेमदृष्टिसे देखता है वही उनका प्रिय बन सकता है, न कि उन्हें मारनेवाला—यह बात स्पष्ट है।

यह माना जा सकता है कि जैन-बौद्धोंने जिस प्रकार आत्यन्तिक और ऐकान्तिक अहिंसा प्रचलित की वैसी वेदमें नहीं थी, लेकिन अहिंसाका सिद्धान्त ही वेदमें नहीं था—यह कहना अयुक्त है। वेद सर्वसाधारण आचरणके लिये अहिंसाका ही उपदेश दे रहा है, परन्तु प्रसंगविशेषमें युद्धादि प्रसंगोंमें वध करनेसे पीछे रहनेकी आज्ञा भी नहीं देता, अर्थात् वेदमें इसी प्रकारकी अहिंसा है जो मानते हुए राष्ट्रीय महायुद्धमें आवश्यक वधकी भी उसमें सम्भावना है। परन्तु कोई कहे कि अपने पेटके लिये दूसरोंका बध किया जाय तो वैसी हिंसा करनेकी आज्ञा वेद नहीं देता है। यह भेद पाठकों-को अवश्य ध्यानमें धारण करना चाहिये। वास्तवमें देखा जाय तो वेदमें ही अहिंसाका सच्चा सिद्धान्त है। तभी तो वेदोंको मानने वाले आर्य रास्ते चलते कीड़े-मकोड़ोंको भी बचानेकी चेष्टा करते हैं और यदि कोई भूलसे दब भी जाय तो वे काँप उठते हैं और 'राम राम' करते हुए पीछे हटते हैं, अपने घरमें अण्डा देनेवाली चिड़िया-कबूतरोंकी भी रक्षा करते हैं।

गोमेध पर विचार

आधुनिक बहुतसे लोगोंकी यह सम्मति है कि वैदिक समयके गोमेधमें गायकी हिंसा अवश्य होती थी। कलियुगमें गोमेध करनेका कलिवर्ज्य प्रकरणमें वर्णित प्रतिबंध इसकी सिद्धताके लिये बताते हैं। परन्तु ये लोग एक बात बिल्कुल भूल जाते हैं कि पारसी लोगोंके जेंदावेस्ता नामक धर्मपुस्तकमें जो 'गोमेज़ यज्ञ' वैदिक गोमेधके सदृश है, उसमें गौकी हिंसा

बिल्कुल नहीं और उनके सोमयागमें भी हिंसा नहीं होती, केवल सोमवल्लीके रसका उपयोग किया जाता है। यूरोपियन लोग तुलनात्मक विचार करते हैं, परन्तु जिस समय तुलनात्मक विचारसे अहिंसा सिद्ध होती है, उस समय उस विचारको वे छोड़ देते हैं। यदि पारसियोंका गोमेज गोवधके विना बन सकता है तो वैदिक आर्योंका गोमेध क्यों नहीं बन सकता ?

'मेध' के लिये किसीको घात-पात करनेकी आवश्यकता बिल्कुल नहीं है, उदाहरणके लिये हम 'गृहमेध, पितृमेघ' शब्द सन्मुख रख सकते हैं। पितृमेधमें जैसा पिताका सत्कार अभीष्ट है और पिताके मांसके हवनकी आवश्यकता नहीं होती; गृहमेधमें जिस प्रकार घरके आरोग्य-रक्षणकी बातोंका विचार प्रधान होता है, उसी प्रकार 'गोमेध' में गौका सत्कार करना और उसके आरोग्यादिका विचार होना स्वाभाविक ही है। मनु भी कहते हैं—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ (मनुस्मृति ३.७०)

अर्थात्—विद्या पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है, मातापिताओंको संतुष्ट रखना 'पितृमेध' है, होमहवन 'देवयज्ञ' है, कृमि कीटकोंके लिये अन्नका समर्पण करना 'भूतयज्ञ' है, और 'नरमेध' अतिथि-सत्कार है।

गौके वैदिक नाम

वैदिक कोश निघण्टुमें गौके नौ नाम दिये हैं, उनमें निम्नलिखित तीन नाम अहिंसार्थक हैं—

१. अघ्न्या (अ+घ्न्या)=हनन करने अयोग्य। अहंतव्या
२. अही (अ+ही) =हनन करने अयोग्य। अहंतव्या
३. अदिति (अ+दिति)=टुकड़े करने अयोग्य। अखंडनीया

ये तीनों नाम—गौकी हिंसा नहीं होनी चाहिये—यह बात स्पष्ट रीतिसे बता रहे हैं। पहिले यज्ञके नामोंमें अहिंसा बताई, अब गौके नामोंमें भी वही अहिंसा है। गौके नाम स्वयं अपने निज अर्थ से बता रहे हैं कि गौ

पवित्र है, इसलिये उसकी कभी हिंसा नहीं होनी चाहिये। यही अर्थ प्रमाण मानकर महाभारतमें निम्न श्लोक लिखा है—

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वालभेत्तु यः॥

(म० भा० शांति पर्व अ० २६३)

अर्थात्—भाई! गौओंका नाम ही अघ्न्या है अर्थात् गौ हिंसा करने योग्य नहीं है, फिर इन गौओंको कौन काट सकता है? जो लोग गौको या बैलको मारते हैं, वे बड़ा अयोग्य कर्म करते हैं।

यज्ञवाचक नाम

यज्ञवाचक नामोंमें 'अध्वर' शब्द वेदोंके अनेक मन्त्रोंमें आया है, विस्तार भयसे उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है। इसका अर्थ ही 'अ हिंसा' है। 'ध्वर' शब्द हिंसावाचक है (ध्वरा हिंसा तदभावो यत्र स अध्वरः) उसका निषेध 'अध्वर' शब्दने किया है। यज्ञके नामोंमें अहिंसावाचक 'अध्वर' शब्द होना सिद्ध कर रहा है कि यज्ञ मेध आदिमें किसी भी प्रकार हिंसा होना उचित नहीं है। 'मेध' (मेधृ हिंसासंगमने च) शब्द के तीन अर्थ हैं, 'बुद्धिवर्धन, संगतिकरण और हिंसन'। मेध शब्दमें हिंसाकी गन्ध है, परन्तु 'वर्धन और मिलाना' भी है। अर्थात् 'गो-मेध' का शब्दार्थ होगा—(१) गोसंवर्धन, (२) गोसंगतिकरण और (३) गोहिंसन पाठक ही विचार करें कि तीन अर्थोंमेंसे गोमेध में कौनसा अर्थ लिया जा सकता है। अहिंसावाचक 'अध्वर' (यज्ञ) शब्दके साहचर्य से गोहिंसन अर्थ एक ओर (अलग) करना पड़ता है और शेष दो अर्थ स्थान पर रह जाते हैं। गौको पालना, गौओंको बढ़ाना और गौसे अच्छे बच्चे पैदा करना 'cow breeding' का तात्पर्य यहाँ गोसंगतिकरण से है। गोमेधमें ये सब बातें आती हैं और गोवध नहीं आता; यह यज्ञ के नामों का विचार करने से ही सिद्ध हो सकता है।

गोवध-निषेधक वचन

गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ॥४२॥
घृतं दुहानामदितिं जनाय...मा हिंसीः ॥४६॥ (यजुर्वेद १३)

"तेजस्वी अवध्य गौ है, इसलिये उसकी हिंसा न कर।

अवध्य गौ है और वह जनोंके लिये घी देती है, इसलिये गौकी हिंसा न कर।"

इस प्रकार गायकी हिंसा करना मना किया है, यह हिंसा न करने की आज्ञा है।

अनुपमेय गौ

वेदका मत है कि अन्य सब पदार्थों के लिये उपमा मिल सकती है, परन्तु गाय के लिये कोई उपमा नहीं है, इतने गायके उपकार मनुष्य जाति पर हैं, इस विषय में निम्नलिखित मन्त्र देखिये—

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमं सरः।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥ (यजुर्वेद २३.४८)

अर्थात्—ज्ञान तेजके लिये सूर्यकी उपमा है, द्युलोकके लिये समुद्रकी उपमा है, तथा पृथ्वी बहुत बड़ी है तो भी उससे इन्द्र अधिक समर्थ हैं, परन्तु (गोः मात्रा न विद्यते) गौके साथ किसीकी भी तुलना नहीं होती।

देखिये, वेद में गौका कितना महत्व वर्णन किया है। यद्यपि पृथ्वीके लिये भी गौ शब्द आया है तथापि गायवाचक ही गौ शब्द इस मंत्रमें है और यहां व्यक्त शब्दों द्वारा उसकी निरुपमेयता बतायी है।

गौसे लाभ

दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्ये सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ (ऋग्वेद १.१६४.२७)

'यह अवध्य गौ अश्विनी देवोंके लिये दूध देवे और यह हमारे बड़े सौभाग्यके लिये बहुत बढ़े।' इस मंत्र में (सा अघ्न्या वर्धताम्) यह अवध्य गौ बढ़े—ऐसा कहा है, यह मंत्र विशेष मनन करने योग्य है। इसका अर्थ मि० ग्रिफिथ करते हैं—and may she prosper to our high advantage—अर्थात्' हमारे लाभ के लिये गौ की वृद्धि हो।' जब इस मंत्र द्वारा

यह बात सिद्ध हुई कि गौकी वृद्धिसे ही हमारा सौभाग्य बढ़ना है तो गौ काटने की सम्भावना ही कहाँ से हो सकती है ? गौ की संख्या और गौके गुणोंकी वृद्धि होने से मनुष्य का अगणित लाभ हो सकता है—यह बात वेद मुक्तकण्ठ से अनेक प्रकार से कह रहा है। गौका इतना महत्त्व वैदिक कालमें माना जाता था। इसलिये हम कह सकते हैं कि वैदिक कालमें गौकी उन्नति करने की ओर ही धार्मिक लोगों का प्रयत्न था। और देखिये—

> **सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम ।**
> **अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वेदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ (ऋ० १.१६४.४०)**

अर्थात्—गौ उत्तम घास खाकर (भगवती) भाग्यवती बने और हम उस गौसे (भगवन्तः) भाग्यवान् या धनवान् हों। हे अवध्य गौ, तू सदा (तृणं अद्धि) घास ही खा और (आ-चरन्ती) वापस आते समय (शुद्धं उदकं पिब) शुद्ध जल पान कर ।

गौको क्या खिलाना चाहिये वह इस मंत्रमें सुन्दर शब्दों द्वारा कहा है। गौ घास ही खावे, यदि गौ पालनी हो तो उत्तम घास उसे मिले—ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये। उत्तम घास और शुद्ध जल पीने वाली गौसे जो दूध आ सकता है वही मनुष्यके लिये आरोग्यवर्धक हो सकता है। पक्का अन्न, धान्य, सड़े पदार्थ तथा मनुष्य की विष्ठा आदि गौको खिलाकर जो दूध मिलता है वह उतना लाभदायक नहीं हो सकता। इस विषयमें निम्न-लिखित मन्त्र अवश्य देखिये—

> **यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।**
> **तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वमृताः ॥ (अथर्ववेद ८.७.२५)**

अर्थात—जो-जो औषधियाँ सदा अवध्य गौवें खाती हैं और जो भेड़ बकरियां खाती हैं, वे सब औषधियाँ तेरा सुख बढ़ावें ।

इसमें 'अघ्न्या' शब्द का अर्थ 'whom none may slaughter' अर्थात् जिनका कोई वध न करे, यह दिया है। यदि गौवाचक अघ्न्या शब्द का यह अर्थ है और उसका वध करना किसीको भी उचित नहीं तो फिर गोमांस-भक्षणकी प्रथा आर्योंमें थी—यह किस आधारसे यूरोपीयन विद्वान् मानते हैं ?

यज्ञमें पशु

यज्ञमें मनुष्य जो देवताओंके उद्देश्यमें देता है, वह स्वयं खाता है, ऐसा मानकर यूरोपियन पण्डित लिखते हैं—

> "The usual food of the Vedic Indian, as far as flesh was concerned, can be gathered from the list of sacrificial victims : what man ate he presented to Gods—i.e. the sheep, the goat and the ox". (Vedic Index, Vol. II, p. 147, lines 10-13)

अर्थात्-वैदिक समय का भारतीय मनुष्य कौन-सा मांस खाता था—यह देखना हो तो यज्ञीय पशुओंकी नामावली देखें, मनुष्य जो खाता है वही देवताओंको समर्पण करता है, अर्थात् भेड़, बकरी, बैल।

इसका मतलब यह है कि ये सब पशु मारकर खाये जाते थे। इसके बाद 'वैदिक इण्डैक्स' में जो लिखा है उससे लगता है कि यूरोपीय लोग यह मानते हैं कि अश्वमेधमें घोड़ा मारा जाता था, परन्तु इनका कथन है कि वैदिक समयके आर्य अधिकतर घोड़ेका मांस नहीं खाते थे। यह यूरोपीयनों की कृपा है कि उन्होंने घोड़ेके मांससे आर्योंको बचाया। नहीं तो जिसका यज्ञ होता था वह खाया जाता था ऐसा मानने पर और यज्ञ-प्रक्रियामें घोड़ेको काटनेकी प्रथा थी ऐसा माननेसे आर्योंका बच जाना कठिन बात थी। परन्तु 'वैदिक इण्डैक्स' पुस्तकमें घोड़ेका मांस खानेकी प्रथा नहीं थी, ऐसा स्पष्ट लिखा है' इसलिये हम उनको धन्यवाद देते हैं।

यदि योरोपके पण्डित यह अपवाद स्वीकार करते हैं कि नरमेधमें नर-बलि होने पर भी नर-मांस और अश्वमेधमें अश्व-बलि होने पर भी अश्व-मांस खाया नहीं जाता था तो इस बातको मानने में भी क्यों आपत्ति है कि अन्य पशुओंका मांस भी नहीं खाया जाता होगा। अब रही बात वैदिक यज्ञमें पशु-बलिकी। इसका विवेचन वेदमें अहिंसा और यज्ञवाचक नाम उपशीर्षकोंके अन्तर्गत हो चुका है कि वैदिक यज्ञोंमें कोई हिंसा या पशु-बलि नहीं होती थी और वेदोंमें प्रायः सभी प्राणियोंकी हिंसा वर्जित है।

अथर्ववेदमें धान, चावल, तिल आदि को ही पशु बताया है, जैसे—

→ अश्वाः कणा, गावस्तण्डुला, मशकास्तुषाः (११.३.५)

अर्थात्—अन्नके कण अश्व हैं, तण्डुल (चावल) गौवें हैं, तुष मशक (मच्छर) हैं।

→ धाना धेनुरभवद् वत्सोऽस्यास्तिलोऽभवत् (१८.४.३२)

अर्थात्—धान धेनु (गाय) बना, तिल उसका वत्स बना।

इससे यह प्रमाणित होता है कि जहाँ यज्ञ में धेनु आदि की आहुति के अर्थमें वाक्य मिलते हैं वहाँ उनसे धेनु-पशु मांसका भाव नहीं है बल्कि अन्न (जौ), तण्डुल, तिल आदि है।

यज्ञोंमें पशुओंकी प्रदर्शनी

यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि 'मेधृ' धातुका संगमन रूप जो अर्थ है उसका समर्थन महाभारत आदिके यज्ञ-विषयक अनेक प्रकरणोंसे होता है। उदाहरणार्थ, महाभारत अश्वमेधपर्वमें निम्न वर्णन मिलता है (अध्याय और श्लोक संख्याके प्रथम अंक गीताप्रेस संस्करणके हैं और दूसरे भंडारकर इंस्टिच्यूटके)।

स्थलजा जलजा ये च पशवः केचन प्रभो।
सर्वानेव समानीतान् अपश्यंस्तत्र ते नृपाः ।। ८५.३२;८७.६ ।।
गाश्चैव महिषीश्चैव तत्र वृद्धस्त्रियोऽपि च।
औदकानि च सत्वानि श्वापदानि वयांसि च ।। ८५.३३;८७.७ ।।
जरायुजाण्डजातानि स्वेदजान्युद्भिजानि च।
पर्वतानूपजातानि भूतानि ददृशुश्च ते ।। ८५.३४;८७.८ ।।
एवं प्रमुदितं सर्वं पशुगोधनधान्यतः।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागताः ।। ८५.३५;८७.९ ।।

अर्थात्—यज्ञ-मण्डपमें जितने भी स्थल और जलके पशु हैं, उन सबको लोगोंने लाया हुआ देखा। वहाँ अनेक प्रकारकी गौएं थीं, भैंसें थीं,

वृद्ध स्त्रियाँ थीं, जलचर जन्तु और पक्षी थे। पर्वत और अनूपके स्वेदज, उद्भिज; जरायुज और अण्डज जन्तु वहाँ एकत्रित किये गये थे। इस प्रकार पशु, गौ, धन और धान्यसे भरपूर और आनन्दित यज्ञमण्डपको देखकर राजा आश्चर्यको प्राप्त हुए।

इससे गोमेध, नरमेध, अश्वमेध, अविमेधादिका प्रदर्शनीका रूप सवथा स्पष्टतया सिद्ध होता है।

यज्ञकी साक्षी

यज्ञमें मांस प्रयोग होना चाहिये या नहीं यह बात भिन्न है। हमारा मत है कि यज्ञ निर्मांस ही होते थे परन्तु कुछ समयके लिये प्रचलित स-मांस यज्ञोंका ही विचार किया जाय, तो पता लगेगा कि आजकलकी यज्ञकी वेदीके दो भेद हैं—

(१) पूर्व-वेदी, और
(२) उत्तर-वेदी।

पूर्व-वेदीमें कई वेदियाँ हैं जिनमें केवल धान्यका ही हवन होता है और कभी मांसका संबंध नहीं आता। केवल इस उत्तर-वेदीमें मांसका हवन होता है। यदि यह वेदी शब्दके विशेषणरूप—पूर्व और उत्तर—ये दो शब्द 'पूर्वकाल' और 'उत्तरकाल' के वाचक मान लिये जायँ, तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि पूर्व (कालकी) वेदोमें केवल धान्यहवन ही किया जाता था, और उत्तर (कालकी) वेदीमें बादमें मांस हवन होने लगा।

जिसमें आजकल मांसका हवन किया जाता है उस वेदीका नाम उत्तर-वेदी ही है। उत्तरवेदीका अर्थ स्पष्टरूपसे यही है कि उत्तर समयमें प्रचलित हुई वेदी अर्थात् पूर्वकालमें यज्ञमें यह वेदी ही नहीं थी। जो वेदियाँ पूर्वकालमें थीं, वे 'पूर्ववेदियाँ' इस समयमें भी हैं। पूर्व-वेदियोंमें शुद्ध धान्यका ही हवन होता है और उत्तर-वेदीपर मांसका हवन होता है। इतना ही नहीं, अपितु पहिले वेदियोंका धान्यहवन पूर्णतासे समाप्त करनेके पश्चात् ही इस मांसवेदीके कार्यका प्रारंभ होता है। यज्ञके पहिले दिनोंमें कभी भी मांसहवन नहीं होता, केवल धान्यहवन होता है, यज्ञके पश्चात्‌के दिनोंमें उत्तरवेदीमें ही मांस हवन करते हैं।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अति प्राचीन कालका यज्ञ पूर्व-वेदियोंसे बताया जाता है जिसमें धान्यहवन ही है और पश्चात्के समयका हवन उत्तरवेदीके मांसहवनसे बताया जाता है यदि ब्राह्मण-ग्रन्थोंके समय ये स-मांस यज्ञ प्रचलित थे—ऐसा किसीका मानना हो तो उसको यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि इससे पूर्वकालमें यह प्रथा न थी और उस समय निर्मांस यज्ञ ही प्रचलित थे।

उत्तरकालमें समांस यज्ञ आरम्भ हुये होगें तो मांस-लोलुप दुष्ट प्रकृतिके लोगोंको इस प्रवृत्तिको निरन्तर बनाये रखनेसे रोकनेके लिये यह विधान दिया गया होगा कि मांस खाना ही है तो केवल यज्ञमें खाओ, जिससे कि प्रतिदिनकी हिंसा तो बचे। श्रीमद्भागवतके निम्न श्लोकका भी यही भाव लगता है—

ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः।
हिंसायां यदि रागः स्याद् यज्ञ एव न चोदना ॥ (श्रीम०भा० ११.२१.२९)

अर्थात्—मेरे परोक्ष मतको न जानकर उन विषयात्मक लोगोंका यदि हिंसामें ही राग हो तो यज्ञमें ही करें।

इससे स्पष्ट है कि यह कोई विधान नहीं है, अपनी विषय-लिप्सा पर रोक लगानेके निमित्त ही यह विधि दी गयी है, न कि कर्त्तव्य विधि।

इसके आगे वहीं लिखते हैं—

हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया।
यजन्ते देवतायज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः ॥ (श्रीम०भा० ११.२१.३०)

अर्थात्—हिंसा-विहारी लोग दुष्टतावश अपनी सुखवासना (इन्द्रिय-तृप्ति) के लिये वध किये हुए पशुओंके मांससे यज्ञ करके देवता, पितर तथा भूत-पतियोंके यजनका ढोंग करते हैं।

इसके पूर्व भी श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट बताया है कि यज्ञमें मारे गये पशु यज्ञकर्त्ताकी मृत्युके बाद अपने मारने वालोंसे उसको खाकर बदला लेते हैं—

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः ।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ॥

(श्रीमद्भागवत ११.५.१४)

जो (पशोः आलभनं न हिंसा–श्रीम० भा० ११.५.१३) पशुका आलभन–स्पर्शमात्र ही निहित है, हिंसा नहीं) इस विशुद्ध धर्मको नहीं जानते वे घमंडी वास्तवमें तो दुष्ट हैं, परन्तु समझते हैं अपनेको श्रेष्ठ। वे धोखेमें पड़े हुए लोग पशुओंकी हिंसा करते हैं और मरनेके बाद वे पशु ही उन मारनेवालोंको खाते हैं।

महाभारतमें भी, जिसको पांचवां वेद माना जाता है, यज्ञमें हिंसा वर्जित है—

इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः ।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ्नरः ॥

(म. भा. अनुशासन पर्व १.१५.४३; ११६.४५)

अर्थात्—जो मांस-लोभी मूर्ख एवं अधम मनुष्य यज्ञ-याग आदि वैदिक मार्गोंके नामपर प्राणियोंकी हिंसा करता है, वह नरकगामी होता है।

कलिवर्ज्य प्रकरण

कई लोगोंका कथन है कि 'कलिवर्ज्य प्रकरण' में अश्वमेध, गोमेध आदिका निषेध किया है इसलिये इस निषेधके पूर्व अश्वमेध और गोमेध होता था और अश्वमेधमें घोड़ेका मांस और गोमेधमें गायका मांस खाया जाता था।

यहाँ प्रश्न होता है कि यह कलिवर्ज्य प्रकरण किसने लिखा ? और किस ग्रंथमें लिखा है ? क्या माननीय प्रमाण ग्रंथमें इस वचनका अस्तित्व है ? जो माननीय प्रमाणभूत स्मृतिग्रंथ हैं उनमें यह वचन नहीं है, इसलिये ऐसे कपोल-कल्पित प्रकरणसे कोई विशेष प्रबल अनुमान नहीं हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि इस कलिवर्ज्य प्रकरणका समय निश्चित हो जानेसे सब बात स्पष्ट हो जाती है। हमारे विचारसे कलिवर्ज्य प्रकरण सात-आठसौ वर्षके अन्दर-अन्दर का है। इसलिये इसके बलसे उसके पूर्वके सम्पूर्ण भूतकालका नियमन नहीं हो सकता है। यहाँ भी पूर्वकथित काल-विपर्यय दोष आ सकता है।

इसके अतिरिक्त यदि माना भी जाय कि कलिवर्ज्य प्रकरणमें अश्वमेध और गोमेधका निषेध है तो भी इससे अश्वमेध या गोमेधकी वैदिक रीतिका पता नहीं लग सकता है, इससे इतना ही सिद्ध हो सकता है कि इस कलिवर्ज्य प्रकरणके लिखे जानेके पूर्व ये स-मांस यज्ञ प्रचलित थे।

यज्ञोंमें वेदमंत्रोंके समयके यज्ञोंकी अपेक्षा ब्राह्मण और सूत्रग्रंथोंके यज्ञोंमें बहुत घट-बढ़ हुई है। जो बातें मंत्रसंहिताओंके यज्ञोंमें नहीं थीं वे बातें उनमें आकर घुस गई हैं, कारण यह है कि पूर्व-वेदीके हवनमें मांस नहीं बरता जाता और उत्तरवेदीके हवनमें अर्थात् पीछे घुसे हुए यज्ञकर्ममें मांसका हवन किया जाता है। यह आजकलकी या यज्ञप्रयोगकी पुस्तक जिस समय लिखी गयी उस समयकी प्रथा है। वैदिक प्रथा तो वही है जो कि छंदोबद्ध मंत्रभागमें बताई है। इसलिये हम यहाँ प्रश्न पूछते हैं कि कौनसे वेदमंत्रसे यह बात सिद्ध होती है कि वैदिक गोमेधमें गौकी हिंसा की जाती थी, यदि वेदका एक भी मंत्र हो तो उसे सामने करें। प्रमाणके बिना माननेके दिन बीत चुके हैं। हमें पता है कि बहुतसे विद्वान् इस समय मानते हैं कि गोमेधमें गौकी हिंसा की जाती थी, परन्तु यहाँ विद्वान् मानते हैं या अविद्वान् मानते हैं, यह प्रश्न नहीं है। वेदमंत्रोंमें किस बातके प्रमाण-वचन मिलते हैं और किस बातके प्रमाण-वचन नहीं मिलते, यही प्रश्न यहाँ है और इसीका विचार हमें करना है।

मांस-भक्षोंके लिये दण्ड विधान

मांस-भक्षण करने वाले क्रव्यादोंको वेद यातुधान (हिंसक राक्षस-वृत्तिका पुरुष) बताता है और उन्हें दण्ड देनेका विधान करता है—

> यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
> यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥
> (ऋग्वेद १०.८७.१६)

इसका निर्देशांक ऋग्वेद ८.४.८.१६ कल्याणके उपनिषदंक पृष्ठ १२४ पर दिया है।

अर्थात्—जो पुरुषके मांसका सेवन करता है, जो घोड़ेका या अन्य पशुका मांस खाता है और गौओंकी हत्या करके उनके दूधसे अन्योंको वंचित करता है, हे राजन् ! यदि अन्य उपायोंसे ऐसा यातुधान न माने तो अपने तेजसे उसके सिर तकको काट डाल, यह अन्तिम दण्ड है जिसको दिया जा सकता है।

या आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ (अथर्व० ८.६.२३)

इस मन्त्रमें कहा है कि जो कच्चा मांस खाते हैं, जो पुरुषों द्वारा पकाया हुआ मांस खाते हैं, जो गर्भरूप अण्डोंका सेवन करते हैं, उनके इस दुष्ट व्यसनका नाश करो।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेदोंमें मांस-भक्षणका निषेध है।

महाभारतका प्रमाण

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥
(म.भा. शान्ति पर्व २६५.६;२५७.६)

अर्थात्—सुरा, आसव, मधु, माँस और मछली तथा तिल और चावलकी खिचड़ी—इन सब वस्तुओं को धूर्तोंने यज्ञमें प्रचलित कर दिया है। वेदोंमें इनके उपयोगका विधान नहीं है।

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्यते वै पशुः।
(म.भा. शान्ति पर्व ३३७.४-५; ३२४.४-५)

अर्थात्— यज्ञोंमें बीजों द्वारा यजन करना चाहिये, ऐसी वैदिकी श्रुति है। बीजोंका ही नाम अज है; अतः बकरेका वध करना हमें उचित नहीं है। जहाँ-कहीं भी यज्ञमें पशुका वध हो; वह सत्पुरुषोंका धर्म नहीं है।

मनुस्मृतिमें गोहिंसाकी जघन्यता

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गांश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ।।
(मनु० ४.१६२)

अर्थात्—आचार्य, (धर्मशास्त्रोंका) प्रवक्ता, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण, गाय और तपस्वी—इनकी हिंसा न करे ।

इस श्लोकमें कथित व्यक्तियोंकी हिंसा गोहिंसाके साथ गिनायी है, जिसका प्रकारान्तरसे यही भाव है कि गोहिंसा—आचार्य, धर्मशास्त्रोंके वक्ता, पिता, माता, गुरु और ब्राह्मण—इनकी हिंसाके बराबर है ।

इसाई धर्ममें गोहिंसाकी जघन्यता

'He that Killeth an Ox is as if he slew a man' (Isaiah 66.3)

अर्थात्—जिसने गोवंशकी हत्या की, उसने मानो मनुष्यकी हत्या की । (अंग्रेजी कोशके अनुसार 'Ox' शब्द गोवंशके नर और मादा, दोनोंका वाचक है)

मुस्लिम धर्ममें गोमांस-निषेध

अल गजाली (१०५८–१११११ इस्वी) २८ वर्षकी अवस्थामें बगदाद के इस्लामिया इंस्टिट्यूटके सर्वोपरि बनाये गये थे । उनके द्वारा लिखित अरबी ग्रंथ इह्य उलुम अल–दीन (धर्मका सार) को कुरानके बराबर आदर दिया जाता है । इसका उर्दू अनुवाद नवलकिशोर प्रेस लखनऊसे 'मज़ाकुल आरफिन' नामसे प्रकाशित हुआ है । इस पुस्तकके सन् १६५५ के संस्करणके दूसरे खण्डके पृष्ठ २३, पंक्ति १७-१६ में गोमांसके दोष और गोघृत तथा दुग्धके गुणके बारेमें लिखा है—

"गायका गोश्त (मांस) मर्ज (रोग) है, उसका दूध शफा (आरोग्य) है और उसका घी दवा है ।"

"उक्षान्न" और "वशान्न" का अर्थ एवं गौका बन्ध्यत्व

अँग्रेजी भाषाकी पुस्तक "वैदिक इण्डैक्स", खण्ड २, पृष्ठ १४५ पर मैक्डोनेल और कीथ महोदय 'मांस' शीर्षकके अन्तर्गत लिखते हैं—

> "The eating of flesh appears as something quite regular in the Vedic texts, which show no trace of the doctrine of Ahimsa, or abstaining from injury to animals. For example, the ritual offering of flesh contemplates that the Gods will eat it, and again the Brahmanas ate the offerings. (Foot-note—So Agni is called eater of Ox and Cow in RV. VIII. 43.11)

अर्थात्—वैदिक ग्रंथोंमें मांस खानेका नियमपूर्वक उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि अहिंसा सिद्धांतका या पशु-हिंसा-वर्जन का नाम-निशान भी नहीं है। उदाहरणके लिये शास्त्रीय विधिमें मांस-समर्पणका भाव यह है कि देवता लोग मांस खायंगे और फिर ब्राह्मण लोग उसको खाते थे। (पाद-टिप्पणी—इसीलिये अग्निका नाम बैल खानेवाला (उक्षान्न) और गाय खानेवाला (वशान्न) ऋग्वेद ८.४३.११ में दिया है।)

ऐसी ही बात वी. एस. आप्टे महोदयने अंग्रेजी भाषाकी पुस्तक 'वैदिक काल' के अध्याय १९ में पृष्ठ ३८९ पर लिखी है जिसका उल्लेख 'विवाह प्रसंगमें गोहत्या और गोमांस' शीर्षकमें आ गया है।

लुप्ततद्धित प्रक्रिया—अंशके लिये पूर्णका प्रयोग

स्वर्गीय प० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर 'गो-ज्ञान-कोश' प्राचीन खण्ड—वैदिक विभाग, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १३ पर 'लुप्त-तद्धित-प्रक्रिया' समझाते हुए लिखते हैं—

वेदमंत्रोंमें कई ऐसे मंत्र हैं कि जहाँ शब्दार्थसे कुछ तात्पर्य और प्रतीत होता है। उदाहरणके लिये देखिये—

गोभिः श्रीणीत मत्सरम् । (ऋग्वेद ९.४६.४)

इसका शब्दार्थ यह है—(गोभिः) गौओंके साथ (मत्सरं) सोम (श्रीणीत) पकाओ। ऐसे मंत्र देखकर लोग भ्रममें पड़ते हैं कि यह गोमांसके साथ सोम पकानेकी या मिलानेकी आज्ञा है। परन्तु यह व्याकरणके अज्ञानके कारण भ्रम उत्पन्न होता है। व्याकरणके तद्धित-प्रत्ययके साथ अच्छा परिचय हुआ तो यह भ्रम नहीं हो सकता। इस विषयमें श्री यास्काचार्यका कथन देखिये—

अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति
'गोभिः श्रीणीत मत्सरमिति' पयसः। (निरुक्त २.५)

"तद्धित-प्रत्यय होनेके समान अंशके लिये संपूर्णका प्रयोग किया जाता है, उदाहरण 'गोभिः श्रीणीत मत्सरं' इसमें 'गौ' शब्दका अर्थ 'दूध' है।" इसी विषयमें यास्काचार्यका और कथन सुनने योग्य है—

" 'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि' इत्यधिषवणचर्मणः। अथापि चर्म च श्लेष्मा च 'गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्व' इति रथस्तुतौ। अथापि स्नाव च श्लेष्मा च 'गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता' इतीषुस्तुतौ ॥१.५॥ ज्याऽपि गौरुच्यते। गव्या चेत्ताद्धितम्, अथ चेन्न गव्या गमयतीषून् इति। 'वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद्गौस्ततोव्यः प्रपताद् पूरुषादः'।"
(निरुक्त २.५)

इस वचनमें वेदके तीन मंत्र देकर श्रीयास्काचार्यजीने बताया है कि 'चर्म, सरेस, ताँत तथा धनुषकी डोरी' इतने अर्थ 'गो' शब्दके हैं अर्थात् यहाँ अंशके लिये संपूर्णका प्रयोग किया है।

Dr. Arthur Anthony Macdonell and Dr. Arthur Berriedale Keith ने भी Vedic Index, Vol. I के पृष्ठ २३४ पर इस बातको स्वीकार किया है—

"The term GO is often applied to express the products of the cow. It frequently means the milk, but rarely the flesh of the animal. In many passages it designates leather used as the material of various objects, as a bowstring, or a sling, or thongs to fasten part of the chariot, or reins, or the lash of a whip."

अर्थात्—'गो' शब्द प्रायः गोसे उत्पन्न वस्तुओंके लिये व्यवहृत हुआ है। बहुत स्थानोंपर इसका दुग्धके अर्थमें प्रयोग हुआ है, बहुत कम जगहपर इसका पशु-शरीरके मांसके अर्थमें प्रयोग हुआ है (ऋग्वेद दशम मण्डल १६।७—शवदाह क्रियामें—'शव-दाहमें गोहिंसा' शीर्षक विवेचन देखिये)। बहुतसे वाक्योंमें अनेक वस्तुओंके उपयोगमें आने वाले चर्म के लिये, जैसे—धनुषकी डोरी, या ताँत, या रथ बाँधनेकी चर्मडोरी, या लगाम, या चाबुककी डोरीमें—'गौ' शब्दका उपयोग हुआ है।

आँख देखता है ऐसा कहनेके स्थानपर मनुष्य देखता है ऐसा सब बोलते हैं इसी प्रकार गोसे उत्पन्न होनेवाले दूध, दही, घी, चर्म, सरेस, तांत और तांतकी बनी डोरी आदि सब पदार्थोंके लिये वेदमें एक ही 'गो' शब्दका प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रसंगोंमें पूर्वापर सम्बन्धसे ही अर्थ करना चाहिये। पाठकोंकी सुविधाके लिये यहाँ हम इनके एक-एक उदाहरण देते हैं—

अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि। (ऋ० १०.६४.६)

(अंशुं) सोमका रस (दुहन्तः) दोहन करते हुए (गवि) चर्मपर (अध्यासते) बैठते हैं।

Ralph T. H. Griffith ने भी इन शब्दोंका ऐसा ही अर्थ किया है जिसमें 'गवि' का अर्थ चर्म लिया है जैसे—

'draining the stalk they sit upon the *Ox's hide.*'

और देखिये—

वनस्पते वीड्वंगो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥
(ऋ० ६.४७.२६)

"हे (वनस्पते) वृक्षसे बने हुए रथ, तू (वीड्वंगः) दृढ़ अवयवोंवाला हमारा सहायक (प्रतरणः) पार ले जाने वाला और (सुवीरः) सुवीरोंसे युक्त हो। तू (गोभिः सन्नद्धः) चर्मकी रस्सियोंसे बांधा हुआ (वीलयस्व) वीरता दिखा, (ते आस्थाता) तेरे अन्दर बैठनेवाला (जेत्वानि जयतु) जीतने योग्य शत्रुको जीते।"

इस मंत्रमें अंशके लिये पूर्णका प्रयोग करने के दो उदाहरण हैं—(१) 'गो' शब्द चमड़ेकी डोरीका वाचक है और (२) 'वनस्पति' (वृक्ष) शब्द वृक्षसे बने हुए रथका वाचक है। जिस प्रकार वृक्षसे लकड़ी और लकड़ीसे रथ बनता है, उसी प्रकार गौसे चमड़ा और चमड़ेसे डोरी बनती है। इसी प्रकार गौसे दूध, दूधसे दही, दहीसे मक्खन और मक्खनसे घी बनता है और उक्त कारणसे ही इन सब पदार्थोंके लिये 'गो' शब्द प्रयुक्त होता है। अब और दूसरा उदाहरण देखिये—

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता।
(ऋ० ६.७५.११)

'यह बाण (सु-पर्णं) उत्तम परोंसे (वस्ते) युक्त है, इसकी (दन्तः मृगः) नोक मगकी हड्डीकी बनी है और यह (गोभिः सन्नद्धा) गोचर्मके बने बारीक धागोंसे अच्छी प्रकार बांधा है यह (प्रसूता) धनुषसे छूटा हुआ शत्रुपर (पतति) गिरता है।'

इस मंत्रमें भी अंशके लिये पूर्णका प्रयोग होनेके उदाहरण हैं। एक 'मृग' शब्द 'मृगकी अर्थात् हरिणकी हड्डीका वाचक है। मृगकी हड्डी कहनेके स्थानपर केवल 'मृग' ही कहा है। इसी प्रकार आगे जाकर चर्मसे बनी डोरियों का वाचक शब्द 'गोभिः' है। यह शब्द भी गोचर्म की डोरीके लिये प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार निम्न मंत्रमें देखिये—

वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद्गौस्ततो वयः प्रपतान्पूरुषादः॥ (ऋ० १०.२७.२२)

(वृक्षे-वृक्षे) लकड़ीसे बने प्रत्येक धनुषपर (नियता गौः) तनी हुई गोचर्मकी डोरी—ज्या (अमीमयत्) शब्द करती है (ततः) उससे (पूरुषादः) मनुष्योंको खानेवाले (वयः) पक्षियोंके पर लगे हुए बाण (प्रपतान्) शत्रुपर गिर जाते हैं।

इस मंत्रमें तीन शब्द अंशके लिये पूर्णका प्रयोग होनेके हैं।
(१) 'वृक्ष' शब्द वृक्ष या लकड़ीसे बने हुए धनुषका वाचक है,
(२) 'गो' शब्द गोचर्म से बने हुए धनुषकी डोरीका वाचक हैं, और
(३) 'वयः' (पक्षी) शब्द उनके पंख लगे बाणोंका वाचक है।

पाठक इतने उदाहरणोंसे समझ गये होंगे कि वेदकी यह शैली ही है कि अंशके लिये पूर्णका प्रयोग हो। यह प्रयोग यदि केवल गौके लिये ही होता तो कोई कह सकते थे कि खींचातानीकी बात है, परन्तु यहाँ तो अन्य वस्तुओंके लिये भी ऐसे ही प्रयोग हैं और ढाई सहस्र वर्षोंके पूर्व ये उदाहरण देकर यही बात श्रीयास्काचार्यजीने बताई है। उक्त उदाहरणोंका समीकरण यह है—

१ 'वनस्पति' शब्द उसकी लकड़ीसे बने रथ के लिये,
२ 'वृक्ष' शब्द उसकी लकड़ीके बने धनुषके लिये,
३ 'गो' शब्द उससे बने दूध, घी आदि के लिये,
४ ,, शब्द उसके चर्म, चर्म-पदार्थ आदि के लिये,
५ ,, शब्द उसके चर्मसे बने डोरी, बैग आदि के लिये,
६ 'मृग' शब्द उसकी हड्डीसे बने शस्त्रका द्योतक है,
७ 'वयः' शब्द उस पक्षीके परोंसे बने बाणोंका वाचक है।

इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु यहाँ उतने ही दिये गये हैं जितने स्वयं श्रीयास्काचार्यने अपने निरुक्त ग्रंथमें दिये हैं। इनको देखनेसे पाठक समझ जायंगे कि यह वैदिक शैली ही है। अतः वेदमें हव्य पदार्थोंके प्रसङ्गमें आये हुए 'गो' आदि शब्दका तात्पर्य उसके दूध, दही, घी ही समझे जाने चाहिये।

'वशान्न' का अर्थ

अब यह बात रही कि अग्निके नामोंमें जो 'उक्षान्न' और 'वशान्न' शब्द आये हैं उनका तात्पर्य क्या है? यूरोपियन लोग मानते हैं कि 'उक्षान्न' का तात्पर्य बैलका मांस और 'वशान्न' का अर्थ गोमांस है। जिस कारण ये नाम अग्नि के लिये वेदमें आये हैं उस कारण अग्निमें ये मांस डाले जाते

थे और खाये भी जाते थे। यह यूरोपियनोंका मत है। अग्निके नामोंसे यदि मनुष्यके भोजनकी कल्पना की जाय तो अग्निका नाम 'विश्वाद्' है, उसका अर्थ 'सर्वभक्षक' है। देखिये—

युवानं विश्पतिं कविं विश्वादं पुरुवेपसम्।
अग्निं शुम्भामि मन्मभिः॥ (ऋ० ८.४४.२६)

'मैं तरुण, जगत्पति, कवि, (विश्व-अदं) सर्वभक्षक, बहुत हलचल करनेवाले अग्निकी उत्तम विचारोंसे प्रशंसा करता हूँ।'

इस मन्त्रमें 'विश्वादं' शब्द अग्निके लिये प्रयुक्त हुआ है। अग्नि (विश्व) सर्व (अद) भक्षक है, इससे—मनुष्य सर्वभक्षक था, वैदिककालके मनुष्य सर्वभक्षक थे—ऐसे अनुमान निकालना अयोग्य है। अग्नि सर्वभक्षक है, उसमें जो डाला जाय वह भस्म करता है, परन्तु इससे यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि उतनी चीजें मनुष्य अवश्य खाता था।

सप्त वृक्षोंकी समिधाएँ अग्निमें डाली जाती हैं तो क्या इससे आम्र, खदिर, बिल्व, पलाश, वट, अर्क आदिकी लकड़ियाँ भी वैदिक आर्य खाते थे, यह अनुमान हो सकता है? अनुमान निकालनेकी यह भयानक रीति होगी। इसलिये 'उक्षान्न और वशान्न' शब्द अग्निवाचक वेदमें हैं, इससे बैल और गायका मांस वैदिक आर्य खाते थे, ऐसा कहना अनुचित होगा।

पूर्व स्थानपर 'एकदेशके लिये सम्पूर्ण'का ग्रहण होता है यह बात बता दी है, उसी नियमके अनुसार 'वशान्न' शब्दका अर्थ 'गौसे उत्पन्न होनेवाले दूध, घी आदि पदार्थ खानेवाला अग्नि' ऐसा होता है। इस विषयमें और उदाहरण देखिये—

ऋ० १.१३७.१ में 'गोश्रीता' 'गवाशिरः' ये शब्द हैं। ये 'सोम' के विशेषण हैं। इनका शब्दार्थ है (गो) गायसे (श्रीता) मिश्रित, तथा (गो) गायसे (आशिरः) मिश्रित। इन दोनों शब्दोंमें गो शब्द है, परन्तु यहाँ कोई भी गोमांस नहीं लेते, अपितु गायका दूध ही लेते हैं। मि० ग्रिफिथने 'गवाशिरः' का अर्थ Bent with milk अर्थात् 'दूधसे मिश्रित' ऐसा किया है। सोमरसमें गायका दूध मिलाकर बड़ा मधुर पेय बनाया जाता है यह बात सब जानते ही हैं।

श्रीसायणाचार्यजी भी 'गोश्रीता, गवाशिरः' शब्दोंके विषयमें इस प्रकार भाष्य करते हैं—"विकारे प्रकृतिशब्दः। पयोभिः मिश्रिताः। गोभिः क्षीरैः आशिरो मिश्रिताः संजाताः।" (ऋ० १.१३७.१-२)—अर्थात् यहाँ गो शब्दसे दूध लिया जाता है, उससे मिश्रित सोम यहाँ इन शब्दोंसे बताया जाता है।

सोमके साथ मिश्रणकी वस्तुएँ और 'उक्षान्न' का अर्थ

सोमके साथ निम्न पदार्थोंका मिश्रण करनेकी सूचना वेदमंत्रोंमें दी है—

१ **गवाशिरः** —**गो दुग्धसे मिश्रित सोम।** (ऋ० १.१३७.१)
२ **गोश्रीता** —**गो दुग्धसे मिश्रित सोम।** (ऋ० १.१३७.१)
३ **दध्याशिरः** —**गोके दहीसे मिश्रित सोम।** (ऋ० १.१३७.२)
४ **यवाशिरः** —**भूने जौके आटेसे मिश्रित सोम।** (ऋ० १.१८७.९)
५ **त्र्याशिरः** —**दूध, दही और भूने हुए धानसे मिश्रित सोम।** (ऋ० ५.२७.५)
('Mixed with milk, curds & parched grain' मि० ग्रिफिथ)
६ **रसाशिरः** —**रसोंसे मिश्रित सोम।** (ऋ० ३.४८.१)

सोमके साथ कितने पदार्थ मिलाये जाते थे, यह बात यहाँ स्पष्ट हो गयी है। सोममें मांस या रक्त मिलानेकी बात कहीं भी नहीं है, यह पाठक अवश्य ध्यानमें धारण करें।

सोमका नाम वेदमें 'उक्षा' भी आता है। उक्षा शब्दका धात्वर्थ (Sprinkling) सिंचन करनेवाला है। सोमसे रसकी बूंदें निकलती हैं इस कारण उसको उक्षा कहते हैं। पूर्व वेदीमें सोमरसका हवन होता है। इसलिये सोम अग्निका अन्न है, यही भाव 'उक्षान्न (सोम ही अन्न)' शब्दमें है। बैल-अर्थ यहाँ अपेक्षित नहीं है क्योंकि बैलके मांसका हवन होता ही नहीं; फिर वह अग्निमें जाय कहाँ से।

उक्षाका सोम अर्थका विशेष विवेचन 'क्या बृहदारण्यक उपनिषद्में गोमांसका विधान है?' शीर्षक प्रबन्धमें देखिये।

इन तर्कोंसे यह सिद्ध होता है कि अग्निका नाम 'उक्षान्न' और 'वशान्न' बैल या वशा-गायका मांस खानेवाला नहीं है, बल्कि उक्षासे और वशा गायसे मिल सकनेवाली अन्य वस्तुओंका खानेवाला है, जैसे—

उक्षा अर्थात् सोमसे मिलनेवाला सोमरस खानेवाला अग्नि अथवा
उक्षा—बैलसे कृषि द्वारा उत्पन्न धान्यका खानेवाला अग्नि; अथवा
उक्षा जैसा बल देनेवाले धान्यको खानेवाला अग्नि; और
वशा-गायसे उत्पन्न दूधसे बने पदार्थ पायस, घी आदि खानेवाला अग्नि ।

मोनियर विलियम्स संस्कृत-अंग्रेजी कोशमें 'वश' का अर्थ पृष्ठ ९२९, कालम २ में will, wish, desire RV. etc. etc.—इच्छा ऋग्वेदमें) वशान् अनु या अनुवशान् का अर्थ—according to wish or will, at pleasure—यथेच्छ, इच्छानुसार—इस प्रकार दिया हुआ है ।

ऋग्वेद ८.४३.११ का अर्थ

अग्निके उक्षान्न और वशान्न खानेवाला नामसे जो लोग बैल और गायका मांस खानेवाला करते हैं, वे ऋग्वेद ८.४३.११ मन्त्रका प्रमाणमें उल्लेख करते हैं । मूल मन्त्र इस प्रकार है—

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
स्तोमैर्विधेमाग्नये ॥ (ऋ० ८.४३.११)

इसका भाष्य चारों वेद-संहिताके भाष्यकार पं० श्रीजयदेव शर्मा, विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ ने इस प्रकार किया है—

(१) हम (**उक्षान्नाय**) वीर्यसेचनमें समर्थ अन्न खानेवाले और (**वशान्नाय**) यथेच्छ अन्नके भोगनेवाले, (**सोम-पृष्ठाय**) वीर्यस्वरूप (**अग्ने**) अग्निवत् आकाशस्वरूप आत्माका (**स्तोमैः**) वेद मन्त्रों द्वारा (**विधेम**) प्रतिपादन और ज्ञान करें ।

(२) 'उक्षाः' जल सेचक, नाना लोकोंको वहन करनेवाले, सूर्यादि और 'वशा' सर्व वशकारिणी शक्तिका अन्नवत् उपभोग करने वाले (**सोम-पृष्ठाय**) सर्व प्रेरक, परमैश्वर्यवान् (**वेधसे**) जगत् विधाता (**अग्नये**) अग्निवत् तेजोमय परमेश्वरकी हम (**स्तोमैः**) स्तुति वचनोंसे (**विधेम**) परिचर्या और स्तुति-उपासना करें ।

वशा गौका वन्ध्यत्व

इसका स्पष्टीकरण स्वर्गीय पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरने अपने 'गो-ज्ञान-कोश', प्राचीन खण्ड—वैदिक विभाग, प्रथम खण्डके पृष्ठ ७८-८० पर किया है जिसको यहाँ उद्घृत किया जाता है।

लौकिक संस्कृतमें वन्ध्या गौको वशा कहते हैं। यही अर्थ इन सूक्तोंमें लगाकर, ये वन्ध्या गौके सूक्त हैं, ऐसा मानकर कइयोंने यहाँ तक माना है कि, वन्ध्या गौका वध करके, उसके अंग प्रत्यंगों का हवन करना भी इन सूक्तों द्वारा सिद्ध हुआ है। हमारे मतसे यह अत्यधिक खींचातानी है, इसलिये हमको पहिले यह देखना चाहते हैं कि, क्या 'वशा' पद इन सूक्तोंमें दूध न देने वाली वन्ध्या गौका दर्शक है या दुधारू गौका वाचक है। देखिये निम्न-लिखित वाक्य क्या बताते हैं—

(अथर्ववेद १०।१०)

१. वशां सहस्रधारां···आवदामसि ॥४॥
हजारों धाराओंसे दूध देनेवाली वशा गौकी हम प्रशंसा करते हैं।

२. शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः ॥५॥
इस वशा गौके पीछे सौ गोपालनकर्त्ता, सौ दोहन करनेवाले और सौ दूधके लिये वर्तन लिये खड़े रहते हैं।

३. इराक्षीरा···वशा ॥६॥
दूधरूपी अन्न देनेवाली वशा गौ है।

४. ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यः ···वशे ७॥।
वशा गौका दुग्धाशय पर्जन्यका रूप है।

५. धुक्षे···क्षीरं वशे त्वम् ॥८॥
हे वशा गौ, तुम दूध देती हो।

६. ते···पयः क्षीरं···अहरद्वशे ॥१०॥
वशा गौके दूधका हरण किया।

७. ते···क्षीरं अहरद्वशे···त्रिषु पात्रेषु रक्षति ॥११॥
वशा गौका दूध हरण करके तीन पात्रोंमें रख दिया है।

८. सर्वे गर्भादवेपन्त···असूस्वः। ससूव हि तामाहुर्वशेति ॥२३॥
गर्भधारण न करनेवालो गौको जब गर्भधारणा होती है, तब सबको भय होता है।

९. रेतो अभवद्वशायाः।···अमृतं तुरीयम् ॥२९॥
वशा गौका वीर्य अमृतरूप दूध ही है।

१०. वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये ॥३०॥
साध्य और वसु-देव यज्ञमें वशा गौ का दूध पीते हैं।

११. वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये।
ते वं ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते ॥३१॥
वशा गौका दूध पीकर साध्य और वसुदेव स्वर्गमें इस दूधकी ही प्रशंसा करते बैठते हैं।

१२. एनामेके दुहे घृतमेक उपासते ॥३२॥
इस गौका दूध एक निकालते हैं और दूसरे घृतके पास रहते हैं॥
(अथर्ववेद १२।४)

१३. उभयेन अस्मै दुहे ॥१८॥
यह गौ (ओझर और थन) दोनोंसे दूध देती है।

१४, सुदुघा···वशा···दुहे ॥३५॥
वशा गौ दोहन करनेके लिये सुलभ है।

१५. प्रवीयमाना···वशा ॥३७॥
वशा गौ गर्भवती होती है।

१६. गोपतये वशाददुषे विषं दुहे ॥३९॥
दान न करनेवाले गौके स्वामीको वह वशा गौ मानो विष ही दुहती है।

१७. वशायास्तत्प्रियं यद्देवत्रा हविः स्यात् ॥४०॥
वशा गौके लिये वह प्रिय है कि, जो इसके दूध का हवन हो जाय।

अथर्ववेद १०.१०.२३ (ऊपर उद्धृत क्रम-संख्या ८) के अनुसार ऐसा अनुमान होता है कि 'वशा' गौ साधारणतया प्रसव नहीं करती, अतः जब कभी उसको गर्भधारण होता है तो पालकोंको भय होने लगता है। अथववेद १२.४.३७ (ऊपर उद्धृत क्रम-संख्या १५) के अनुसार यदा-कदा

वशा गौका बन्ध्यत्व

वशा गौ गर्भवती भी होती है और प्रसव भी करती है। अथर्ववेदका यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वशा।

वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्यताम् (अथर्व० १२.४.३७)

श्रीसातवलेकरजीने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

(**प्रवीयमाना**) सन्तान उत्पन्न करनेवाली (**वशा**) वशा गौ (**गोपतये**) अपने स्वामी के लिये (**क्रुद्धा चरति**) क्रुद्ध होकर विचरती है, और कहती है कि (**मा**) मुझे (**वेहतं**) गर्भपातिनी (**मन्यमानः**) बतानेवाला (**मृत्योः पाशेषु**) मृत्युके पाशोंसे (**बध्यतां**) बांधा जावे।

इससे ऐसा लगता है कि वेदोंमें वर्णित 'वशा' गौ न तो बन्ध्या है और न साधारण गायोंकी तरह बार-बार गर्भवती होकर प्रसूता होती है। अथवा बन्ध्याकी तरह गर्भवती न हो तो भी 'वशा' गौ बहुत बड़ी मात्रामें बराबर दूध देती रहती है। इसीलिये सौ पालनकर्त्ता, सौ दोहनेवाले और सौ दोहनके बर्तन लिये हुए उसके पास रहते हैं।

यदि 'वशा' संज्ञावाली गाय बिना प्रसूता हुए इतनी अधिक मात्रामें दूध देनेवाली है तो यह भी मानना होगा कि ऐसे गुणवाली गाय कभी-कभी संयोग और सौभाग्यसे ही किसी-किसी भाग्यवान्को प्राप्त होती है, और ऐसी गायें अधिक संख्यामें नहीं होतीं। ऐसी दुर्लभ वस्तुको क्या कोई भी व्यक्ति बलिदान द्वारा नष्ट करनेकी बात किसी भी अवस्थामें सोच सकता है? विदेशोंमें, जहाँ गायका मांस स्वतन्त्रतापूर्वक खानेवाले लोग हैं, उनको भी कदाचित् ऐसी गाय कभी मिल जाय तो वे भी सब प्रकारसे उसकी रक्षा और पालन करेंगे तथा किसी भी हालतमें उसकी हत्या नहीं होने देंगे। अतः जो भी यह कहते हैं या प्रमाणित करनेकी चेष्टा करते हैं कि 'वशा' गायकी वैदिक कालमें हत्या द्वारा बलि दी जाती थी वे सर्वथा भ्रममें हैं। 'वशा' गायकी बात तो दूर रही, साधारण गायकी बलि भी वैदिक कालमें वेदों के अनुसार प्रमाणित नहीं होती।

अपने स्वार्थकी दृष्टिसे और अपने अर्थकी दृष्टिसे ऐसे गुणोंसे युक्त गायको तो कसाई व्यवसाय वाला व्यक्ति भी हत्या न करके उसको अपने लिये जीवित रखकर उसके दूध आदिसे सर्वदा लाभ उठायेगा।



क्या विवाह-प्रसंगमें गोहत्या और गोमांस प्रचलित था ?

भारतीय विद्या भवन, बम्बईके तत्त्वावधानमें प्रणीत George Allen & Unwin Ltd. London द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी भाषाकी पुस्तक 'वैदिक काल' (The Vedic Age) के अध्याय १९ में श्री वी. एम. आप्टे महोदय अपने प्रबन्ध 'समाज और आर्थिक परिस्थिति' (Social and Economic Conditions) में (द्वितीय संस्करण, १९५२) पृष्ठ ३८९ पर 'विवाह और स्त्रियोंका स्थान' (Marriage and the Position of Women) शीर्षकके अन्तर्गत लिखते हैं—

> "A hymn in RV (X. 85)—which may be called the wedding hymn gives us some idea of the oldest marriage ritual. The bridegroom and party proceed to the bride's house (X.17.1), where the well-adorned bride remains ready (IV.58.9) to join the marriage-feast. The guests are entertained with the flesh of cows killed on the occassion (X.85.13). The ceremony proper now commences. The bridegroom grasps the hand of the bride and leads her round the fire (X.85.36,38). These two acts constitute the essenee of the marriage and the bridegroom is now the husband who takes her by hand (hasta-grabhan X.18.8). The bridegroom next takes the bride home in a car, in a wedding procession (X 85.7,8,10,24-27,42). Then follows the consummation which is signified chiefly by the purification of the bride's garment (X.85.28-30,35)."

अर्थात्—ऋग्वेद (१०.८५) के एक मन्त्रसे, जिसको विवाहका मन्त्र कहा जा सकता है, प्राचीनतम विवाह-संस्कारकी कुछ झांकी मिलती है। वरपक्षवाले कन्यापक्षवालोंके यहाँ जाते हैं (ऋ० १०.१७,१), जहाँ शृंगार-सुसज्जित कन्या विवाह-भोजमें भाग लेनेके लिये तैयार

रहती है (ऋ० ४.५८.९)। अतिथियोंको उसी अवसरपर मारी हुई गायोंके मांसका भोजन कराया जाता हैं (ऋ० १०.८५.१३)। अब विवाहकार्य आरम्भ होता है। वर कन्याका हाथ पकड़ता है और अग्निकी परिक्रमा कराता है (ऋ० १०.८५.३६,३८)। ये दो कार्य (गोहत्या एवं गोमांसयुक्त भोजन तथा कन्याका हाथ पकड़कर अग्निपरिक्रमा) विवाह-विधिके सार हैं और अब वर पति बन जाता है और उस कन्याका हाथ पकड़कर ले जाता है (हस्त-ग्राभः ऋ० १०. १८. ८)। इसके पश्चात् वर कन्याको एक गाड़ीमें बैठाकर बारात सजाकर घर ले जाता है। इसके उपरान्त कन्याके वस्त्रोंकी शुद्धिके द्वारा इसकी पूर्णता—समाप्ति होती है (ऋ० १०.८५.२८-३०,३५)।

इसके पश्चात् आप्टे महोदय पृष्ठ ३९३ पर 'खाद्य और पेय' (Food and Drink) शीर्षकके अन्तर्गत लिखते हैं—

"The cow receives the epithet aghnyā (not to be killed) in the Rigveda, and is otherwise a very valued possession. It is difficult to reconcile this with the eating of beef, but we may get some explanation if we remember the following :

(i) Firstly, it was the flesh of the ox rather than of the cow that was eaten ; a distinction was definitely made.

(ii) The flesh of the cow was (if at all) eaten at the sacrifices only, and it is well known that one sacrifices one's dearest possession to please the gods.

(iii) Even in the Rigveda, only vaśās (barren cows) were sacrificed. For example, Agni is called in VIII.43.11 as vaśānna.

The expression atithinirgăh (cow fit for guests) in X.68.3 implies the same distinction."

अर्थात्—ऋग्वेदमें गायको अघ्न्याकी उपाधि दी गयी है तथा वैसे भी यह बहुमूल्य सम्पत्ति है। गोमांस खानेके उल्लेखके साथ इसका

समन्वय बड़ा कठिन हो जाता है। तथापि यदि निम्न बातोंका ध्यान रक्खा जाय तो इसका कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है—

१. प्रथम तो जो मांस खाया जाता था वह गायकी बजाय बैल (ox) का होता था ; इनका भेद निश्चित रूपसे बताया गया है (अंग्रेजी-कोशमें ox का अर्थ गोवंशका नर और मादा दोनों हैं, किन्तु आप्टे महोदयने यहाँ नर ही लिया लगता है)।

२. गायका माँस (कदाचित्) खाया भी जाता हो तो वह केवल यज्ञोंमें खाया जाता था। यह सर्वविदित बात है कि देवोंको प्रसन्न करनेके लिये अपनी प्रियतम (सबसे अधिक प्रिय) वस्तुका ही बलिदान किया जाता है।

३. ऋग्वेदके अनुसार भी वशा (बाँझ) गायकी बलि दी जाती थी। उदाहरणके लिये अग्निका नाम ऋग्वेद ८.४३.११ में वशान्न है।

ऋग्वेदमें १०.६८.३ में अतिथिनीर्गाः वाक्य इसीका वाचक है।

Arthur Anthony Macdonell and Arthur Berriedale Keith ने भी अपने वैदिक इण्डेक्स, खण्ड २ के पृष्ठ १४५ पर लिखा है—

"The marriage ceremony was accompanied by the slaying of oxen, clearly for food."

अर्थात—विवाह प्रथामें गोवंशका बलिदान होता था जिससे स्पष्ट है कि भोजनके लिये ही होता था।

ऊपर उद्धृत ऋग्वेदके दशवें मण्डलके ८५वें सूक्तपर विचार करनेके पूर्व अन्य मन्त्रोंपर विचार कर लिया जाय. क्योंकि दशवें मण्डल के ८५वें सूक्तके सब मन्त्रोंका विस्तृत रूपसे विचार करना जरूरी होगा।

ऋग्वेद ४.५८.९ का अर्थ

आप्टे महोदय कहते हैं कि ऋग्वेद, मण्डल ४, सूक्त ५८, मन्त्र ९ के अनुसार वरपक्षवाले कन्यापक्षवालोंके यहाँ पहुँचनेके समय शृंगार-सुसज्जित

ऋग्वेद ४.५८.९ का अर्थ

कन्या विवाह-भोज- (marriage feast) में भाग लेनेके लिये तैयार रहती है। मन्त्रका पाठ इस प्रकार है —

> कन्याइव वहतुमेतवा उ अञ्ज्यञ्जना अभि चाकशीमि।
> यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत्पवन्ते ॥

पदच्छेद करने पर शब्द मिलते हैं।—

कन्याः, इव, वहतुम्, एतवा, उ, अञ्जि, अञ्जना, अभि, चाकशीमि, यत्र, सोमः, सूयते, यत्र, यज्ञः, घृतस्य, धारा, अभि, तत्, पवन्ते ।।

इन सब शब्दों को मोनियर विलियमके एवं वी.एस. आप्टे के संस्कृत-अंग्रेजी कोशोंमें खोजनेपर इनमेंसे किसी भी एक शब्द का अर्थ feast (भोज) नहीं मिला।

मन्त्रका साधारण अर्थ इस प्रकार बनता है—

कन्याः इव =कन्याओंकी तरह, अर्थात् कन्याएँ जिस प्रकार
अञ्जि अञ्जना=अञ्जन, आभूषण आदि शृंगारसे सुसज्जित होकर
वहतुम् एतवा=विवाह करनेके लिये जाती हुई
अभि पवन्ते=सुशोभित होती है।

उसी प्रकार

	(आधिभौतिक अर्थ)	(आध्यात्मिक अर्थ)
यत्र सोमः सूयते	— जहाँ सोमयाग होता है	जहाँ सौम्य गुणयुक्त शिष्य हैं
यत्र यज्ञः	—जहाँ यज्ञ होता है	जहाँ ज्ञानका आदान-प्रतिदान रूप यज्ञ है
तत्	—वहाँ	वहाँ
घृतस्य धारा	—घृतकी धारा को	घृतधारारूप ज्ञानकी वाणियोंको
अभि चाकशीमि	--मैं प्रकाशित देखता हूँ, अर्थात् जहाँ यज्ञ होता है वहाँ घृतकी समिधा प्रज्वलित होकर यज्ञको प्रकाशित—सुशोभित—सुसज्जित कर देती है।	मैं साक्षात् करता हूँ, अनुभव करता हूँ, अर्थात् ज्ञानरूपी प्रकाश प्रकट हो जाता है।

यह आलङ्कारिक मन्त्र हैं, इसमें कहीं भी गोमांसयुक्त भोजकी बातका उल्लेख गन्धमात्रके लिये भी नहीं हैं।

H. H. Wilson महोदयने भी ऋग्वेदके इस मन्त्रके अपने अंग्रेजी भाषाके अनुवादमें कहीं भो गोमांस द्वारा भोजका अर्थ नहीं किया है। उनका अंग्रेजो अनुवाद नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

> "I contemplate these streams of *ghi* as they flow from where the *soma* is effused, where the sacrifice (is solemnized), as maidens decorating themselves with unguents to go the bridegroom." (RV. IV.5.13.9)

Ralph T.H. Griffith महोदय इस मन्त्रके अंग्रेजी अनुवादमें वैवाहिक भोज (bridal feast) तो अर्थ किया है, लेकिन गोमांसयुक्त अर्थ नहीं किया है जो नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

> "As maidens deck themselves with gay adornment to join the bridal feast, I now behold them,
> Where *soma* flows and sacrifice is ready, thither the streams of holy oil are running."

मोनियर विलयम्सके एवं वामन शिवराम आप्टेके अंग्रेजी-संस्कृत कोश में feast के लिये भोजनके अर्थ में निम्नलिखित संस्कृत शब्द मिलते हैं—

सत्क्रिया, सहभोजनं, सम्भोजनं, उत्तमान्नसम्भारः परमान्नसम्भारः, विशिष्टान्नसम्भारः।

अंग्रेजी भाषाकी 'वैदिक काल' पुस्तकमें 'समाज और आर्थिक परिस्थिति' के लेखक वी०एस० आप्टे महोदय या अन्य लेखक लोग जो इस अर्थमें इस मन्त्रका उद्धरण देते हैं, कहाँसे ऐसा अर्थ ले आये, कुछ समझमें नहीं आता।

श्री वी०एस० आप्टे महोदयने लिखा है कि जो मांस खाया जाता था वह गायकी बजाय बैलका होता था, क्योंकि गायको 'अघ्न्या' उपाधि दी गयी है और वह बहुमूल्य सम्पत्ति है। उनके विचारसे बैल बहुमूल्य सम्पत्ति नहीं है, इसलिये वेदोंमें बैलको अवध्य नहीं बताया। लेकिन यह उनके समझनेकी भूल लगती है। स्वर्गीय पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकरने अपने गो-ज्ञान-कोश, प्राचीन खण्ड—वैदिक विभाग, द्वितीय खण्डकी भूमिकाके पृष्ठ ८-९ पर इसका उल्लेख किया है जो यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

बैलकी अवध्यता

'अघ्न्या' शब्द जैसा गौके लिये प्रयुक्त होता है वैसा ही 'अघ्न्य' शब्द बैल वाचक भी है। इसलिये गौके समान ही बैल भी रक्षणीय और वर्धनीय तथा अवध्य ही है, देखिये—

> शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्ति हन्ति चक्षुषा।
> शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पातिरघ्न्यः ॥ १७ ॥
> शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः।
> जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥१८॥
> (अथर्ववेद ९.४)

अर्थात्—जो गौवोंका (अघ्न्यः) अवध्य पति अर्थात् बैल है वह कानोंसे कल्याणकी बातें सुनता है, वह आँखोंसे अकालके दुर्भिक्ष्यका नाश करता है और अपने सींगोंसे राक्षसोंको दूर भगाता है। सौ यज्ञोंसे वह यजन करता है, (एनं) इस बैलको (अग्नयः न दुन्वन्ति) अग्नि जलाते नहीं हैं। सब देव उसे उन्नत करते हैं जो (ब्राह्मणे) ब्राह्मणको (ऋषभं) बैल (आजुहोति) अर्पण करता है।

इसमें निम्नलिखित बातें देखने योग्य हैं—

१. बैलका नाम अ-घ्न्य है जिसका अर्थ अवध्य है। (मन्त्र १७)

२. एक बैल ब्राह्मणको दान करना सौ यज्ञके बराबर है (मन्त्र १८) बैलके रक्षण करने, संवर्धन करने और दान करनेका इतना महत्व है।

३. उसको अग्नि जलाता नहीं है, इतना बैल का महत्व है। (मन्त्र १८)

४. बैल कभी कानोंसे बुरे शब्द सुनता नहीं, क्योंकि सब उसकी प्रशंसा ही करते हैं। (मन्त्र १७)

५. बैल अपनी आँखसे अकालके दौर्भिक्ष्यको दूर करता है (अवर्ति हन्ति चक्षुषा)। बैल खेती द्वारा अकालको हटाता है। (मन्त्र १७)

यह बैलका वर्णन पढ़नेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि बैल ऐसा उपयोगी है, इसलिये कौन उसको अपने पेटकी पूर्तिके लिये काटेगा और अकालसे त्रस्त होनेके लिये तैयार होगा। यदि बैल अकालको दूर करता है तो उसे सुरक्षित रखना ही आवश्यक है।

श्री वी० एस० आप्टे महोदयने लिखा है—गौका मांस कदाचित् खाया भी जाता हो, तो वह केवल यज्ञोंमें खाया जाता था; यह सर्वविदित बात है कि देवोंको प्रसन्न करके लिये अपनी प्रियतम (सबसे अधिक प्रिय) वस्तुका ही बलिदान किया जाता है। यह मालूम होना चाहिये कि प्रत्येक प्राणीको सबसे अधिक प्रिय वस्तु तो अपना शरीर है; अतः देवोंको प्रसन्न करनेके लिये जीव बलि ही देनी हो तो सबसे अधिक प्रिय वस्तु अपने शरीरकी ही बलि देनी चाहिये। यह उनकी समझकी भूल है कि गायकी बलिसे देव प्रसन्न होते हैं। इसका विस्तृत विवेचन 'क्या वैदिक कालमें गोहिंसा, मांसपरक यज्ञ और मांसभक्षण प्रचलित था?' शीर्षक के अन्तर्गत देखा जाय।

इसके बाद वे लिखते हैं कि ऋग्वेदके अनुसार 'वशा' (वन्ध्या) गायकी बलि दी जाती थी क्योंकि ऋग्वेद ८.४३.११ में अग्निका नाम 'वशान्न' है। इससे उनका अभिप्राय है कि अग्निका अन्न वशा है, इसलिये वशा गौकी बलि देकर उसके मांसका हवन किया जाता था। वैदिक 'वशा' गौको वन्ध्या मानना अज्ञानके कारण है। इसके स्पष्टीकरणके लिये 'उक्षान्न और वशान्नका अर्थ एवं वशा गौका वन्ध्यत्व' शीर्षक प्रबन्धके अन्तर्गत विवेचन देखिये।

इसके आगे उन्होंने लिखा है कि 'अतिथिनीर्गाः' (ऋग्वेद १०.६८.३) वाक्य भी इसीका वाचक है। इसका विवेचन 'क्या मधुपर्कमें गोमांस सम्भव है?' शीर्षकके अन्तर्गत 'अतिथिनीर्गाः और अतिथिग्वका अर्थ' उपशीर्षकमें देखिये।

ऋग्वेद १०.८५ का वर्णन

अब हम विवाह प्रसंगमें गोहत्या और गोमांसपर विचार करते हैं। इसका विवेचन स्वर्गीय पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरने अपने

ऋग्वेद १०.८५ का वर्णन

गो-ज्ञान-कोश, प्राचीन-खण्ड वैदिक विभाग, प्रथम खण्डके पृष्ठ १६ से २० तक दिया है, उसको यहाँ उद्धृत किया जाता है—इसके प्रमाणमें निम्न मन्त्र दिया गया है—

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥
(ऋग्वेद १०.८५.१३)

यह मन्त्र एक आलङ्कारिक वर्णनमें आ गया है। इसका पूर्वापर सम्बन्ध देखनेसे मन्त्रका अर्थ स्वयं खुल जायगा। इसलिये इसके आगे-पीछेके कुछ मन्त्र देखिये—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥१॥
चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात्सूर्या पतिम् ॥७॥
स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः ।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः ॥८॥
सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा ।
सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादवात् ॥९॥
मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत छदिः ।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या गृहम् ॥१०॥
ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः ।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥११॥
शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम् ॥१२॥
सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत् ।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥१३॥
यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप ।
क्वैकं चक्रं वामासीत्क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥१५॥
द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः ।
अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः ॥१६॥
(ऋग्वेद १०.८५, १, ७-१३, १५, १६)

इन मन्त्रोंका अर्थ देखनेके समय पाठक यह बात ध्यान में रखें कि यह विवाहका आलङ्कारिक वर्णन है जिसमें सूर्यकी पुत्री सूर्या का विवाह चन्द्रमासे होनेका वर्णन है, देखिये अब इसका अर्थ—

सत्यसे भूमिका धारण हुआ है, सूर्यने द्युलोकका धारण किया है, सचाईसे आदित्य ठहरे हैं, द्युलोकमें सोम रहा है ।।१।। विचारशक्ति का तकिया बनाया है, दृष्टिका अञ्जन आँखमें रखा है, भूमिसे द्युलोक तकके सब पदार्थ खजाना था जिस समय सूर्या वधू अपने पतिके पास गई ।।७।। रथ बनानेमें मन्त्रोंके दण्डे लगाये गये, कुरीर नामक छन्दोंसे उनकी चमक बढ़ायी गयी। दोनों अश्विनीकुमार बधू पक्षके साथ थे और अग्नि सबके आगे था ।।८।। सोम, वधू चाहनेवाला वर था और अश्विदेव वधूके साथ रहे। सूर्यदेवने मनसे पतिकी इच्छा करनेवाली सूर्याविधूको पतिके हाथमें अर्पण किया ।।९।। इसका रथ मन ही था, द्युलोक उस रथका ऊपरका भाग था, दो श्वेत बैल रथ को जोड़े थे, जिस समय सूर्या अपने पतिके घर पहुँची ।।१०।। ऋक् और साममन्त्रोंसे वे दोंनों बैल अपने स्थानमें रखे गये थे। यहाँ दो कान ही रथ के दो चक्र थे, द्युलोकमें उसका स्थावर जंगम मार्ग है ।।११।। तुम्हारे जानेके दोनों चक्र शुद्ध हैं, व्यान नामक प्राण रथका (अक्षः) मध्यदण्ड है, ऐसे (मनस्मयं अनः) मनरूपी रथपर सूर्या देवी बैठकर अपने पतिके पास जाती है ।।१२।। सविता देवने सूर्या देवीको दहेज धूम-धड़ाकेके साथ भेजा। जो आगे चली, इस समय (अघासु हन्यन्ते गावः) [यूरोपीयनोंका अर्थ=मघा नक्षत्रमें गौवें मारी जाती हैं] मघा नक्षत्रमें गौवें दहेजमें भेजी हैं अर्थात् सूर्यकी किरणें चन्द्रमा तक पहुँचायी जाती हैं और (अर्जुन्योः पर्यूह्यते) फाल्गुनी नक्षत्रोंमें सूर्याके साथ सोमका विवाह किया जाता है ।।१३।। हे अश्विदेवो ! जब आप अपने तीन चक्रवाले रथमें बैठकर सूर्यादेवीकी बरातमें स्वयं आये, तब आपके रथका एक चक्र कहाँ था, और आप आज्ञा-पालनके लिये कहाँ ठहरे थे ।।१५।। हे सूर्यादेवी ! तुम्हारे दो चक्र ब्राह्मण ऋतुओंके अनुसार जानते हैं और जो एक चक्र (गुहा) गुप्त है, (या हृदयकी गुहामें अदृश्य है,) उसको वे ही जानते हैं कि जो अटल सत्य तत्वको जानते हैं ।।१६।।

पाठक ये मन्त्र देखें और उनका यह अर्थ भी देखें तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि वहाँ गौओंका वध करनेका सम्बन्ध ही नहीं है। यदि

'गायें मारी जाती हैं' ऐसा बीचमें पढ़ा जाय तो वह वहाँ सजता भी नहीं है। ऊपरके अर्थमें यह यूरोपीयनोंका अर्थ [कोष्ठकमें] और वास्तविक अर्थ दोनों दिये हैं। पाठक खूब विचार करके देखें और स्वयं अनुभव करें कि यूरोपीयनोंको इन मन्त्रोंको समझनेमें कैसी बड़ी भारी भूल हुई है।

डा० विल्सनने (अघासु हन्यन्ते गावः) का अर्थ मघा नक्षत्रमें गौवें (are whipped along) चलायी जाती हैं ऐसा किया है जो अधिक शुद्ध है, परन्तु गौवें काटी जाती हैं यह अर्थ मि० ग्रिफिथ, व्हिटने आदिने माना है, वह उनकी बड़ी भारी भूल है, यह पूर्वापर सम्बन्ध देखनेसे स्वयं स्पष्ट हो जाता हैं। यह ऊपरके मन्त्रोंका जो अर्थ हमने ऊपर दिया है वह सब यूरोपीयन ऐसा ही मानते हैं, केवल गौ काटने वाला उनका अर्थ भिन्न है। वास्तवमें यहाँ अब इसका अधिक वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि पाठकोंको यह अलङ्कार स्पष्ट समझमें आ जाय, इसलिये संक्षेपसे यह अलङ्कार खोलते हैं। विवाहकी बरातका रथ—

रथ	मन (मन्त्र १०)
रथका छत्र	द्युलोक (मन्त्र १०)
रथचालक	दो बैल (मन्त्र १०)
लगामें	ऋक्साम मन्त्र (मन्त्र ११)
मार्ग	स्थावर जंगम जगत् (मन्त्र ११)
अक्ष (रथदण्ड)	व्यान प्राण (मन्त्र १२)
तकिया	विचार शक्ति (मन्त्र ७)
अञ्जन	दृश्य (मन्त्र ७)
खज़ाना	सब पदार्थ (मन्त्र ७)
रथके दण्ड	मन्त्र (मन्त्र ८)
रथकी चमक	मन्त्रोंके छन्द (मन्त्र ८)
वधूके साथी	दो अश्विनीकुमार (मन्त्र ९)
अग्रगामी	अग्नि (मन्त्र ९)
दो रथ चक्र	दो कान (मन्त्र ११)

मन्त्रमें जिस प्रकार वर्णन है वह यहाँ दिया है, परन्तु पाठक जानते ही हैं कि वेदका वर्णन आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन विभागोंमें विभक्त होता है, इस विचारसे संगतिकरण करके नीचे कोष्ठक दिया जाता है जिससे यह रूपक खुल जायगा—

अधिभूत (लोकाचारमें)	अधिदैवत (विश्वमें)	अध्यात्म (शरीरमें)
वधूका पिता	सूर्य	परमपिता
वधू	सूर्या (सूर्यप्रभा)	बुद्धिशक्ति
वर	सोम	षोडशकलायुक्त आत्मा
वधूके साथी	दो अश्विनी	श्वास, उच्छ्वास
बरातमें	अग्रगामी अग्नि	शब्द (वाणी)
...	...	...
आँखमें अञ्जन	दृश्य	दृष्टि
वधूका धन	सब पदार्थ	सब अवयव
...	...	...
गौवें	किरणें	इन्द्रियाँ
रथ	विद्युत्	मन
रथकी छत	द्युलोक	मस्तिष्क
रथका मार्ग	स्थिर-चर	जड़-चेतन
रथवाहक	(दो) बैल वायु	प्राणापान
लगामें	...	ऋक्सामसन्त्र
रथके दण्ड	...	मन्त्र
रथकी चमक	...	छन्द
अक्ष	...	व्यानवायु
रथके दो चक्र	दिशाएँ	दो कान
रथमें तकिये	...	सुविचार

यह कोष्ठक देखनेसे यह वैदिक अलङ्कार पाठकोंके मनमें खुल गया होगा। इसलिये इसका विचार यहाँ अधिक फैलानेकी आवश्यकता नहीं है। पाठक यह विवाह अपने अन्दर भी देख सकते हैं और बाहर जगत्में भी देख सकते हैं। वेदमन्त्रोंमें बाह्य जगत्में होने वाले सनातन विवाहका वर्णन किया है और बीच-बीचमें व्यक्तिके शरीरमें होने वाले विवाहकी भी सूचनायें मन, सुविचार आदि शब्दों द्वारा दी हैं। सूर्यकी प्रभा चन्द्रमामें जाकर वहाँ रमती हैं; इसपर रूपकालङ्कारसे आध्यात्मिक तत्वका वर्णन इस सूक्तमें किया है।

गौके साथ 'हन्' प्रयोगका अर्थ

गौ शब्द सूर्य-किरणोंका वाचक प्रसिद्ध है, इस विषयमें किसीको भी शंका नहीं है। 'हन्यन्ते'—इस क्रियामें 'हन्' धातु है, 'हन् हिंसागत्योः'—ये आचार्य पाणिनि मुनिने इसके अर्थ दिये हैं अर्थात् 'हिंसा और गति' ये इसके अर्थ धातु पाठमें हैं, कोशोंमें इस 'हन्' धातुके अर्थ निम्न प्रकार हैं—

To kill (वध करना),
To multiply (गुणा करना),
To go (जाना)।

हरएक कोशमें पाठक ये अर्थ देख सकते हैं। यदि पाठक इस 'हन्' धातुके अर्थ देखेंगे तो उनको—

अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥

इस पूर्वोक्त मन्त्रके वाक्यका अर्थ (पूर्वोक्त अलङ्कार छोड़कर भी) स्पष्ट हो जायगा—(अघासु) मघा नक्षत्रके समय (गावः) गौवें (हन्यन्ते) चलायी जाती हैं, और (अर्जुन्योः) फाल्गुनी नक्षत्रके समय (पर्युह्यते) विवाह किया जाता है। डा० विल्सनने यही अर्थ स्वीकृत किया है। अलङ्कारका तात्पर्य छोड़कर और केवल स्थूल दृष्टिसे देखकर भी सरल अर्थ यह होता है। क्योंकि यद्यपि 'हन्' धातु का 'वध करना' अर्थ प्रसिद्ध है, तथापि उसका दूसरा गतिवाचक अर्थ नष्ट नहीं हुआ है। यदि उसका (to multiply) गुणा करना—यह अर्थ लिया जाय तो 'गावः हन्यन्ते' का अर्थ होगा—गौओंकी संख्या बढ़ायी जाती है, गौवें दुगुनी-चौगुनी की जाती हैं। जिस समय विवाह होता हैं उस समय बहुत से आदमी इकट्ठे होते हैं, उनको दूध पिलानेके लिये स्थान-स्थानसे गौवें इकट्ठी भी की जाती हैं, लायी जाती हैं और उनकी संख्या बढ़ायी जाती है। विवाह प्रसंगके लिये यह अर्थ कितना सार्थ है और सरल है—यह देखिये। 'अघ्न्या' शब्दसे बताया हुआ गौका अवध्यत्व रखकर ही जो अर्थ पूर्वापर सम्बन्धसे ठीक बैठ जायगा वही ठीक अर्थ होगा।

इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त कोष्ठकमें देखिये तो पता लग जायगा कि जो अधिभूतमें गौवें हैं वे ही अधिदैवतमें किरणें और आध्यात्मिक भूमिकामें

इन्द्रियशक्तियाँ हैं। जिस समय किसी बातके विषयमें सन्देह उत्पन्न हो जाता है उस समय अन्य क्षेत्रोंका व्यवहार देखकर अर्थका निश्चय करना चाहिये। अधिभूतपक्षमें अर्थात् लोक व्यवहारमें गौवोंका वध विवाह प्रसंगमें करना चाहिये या नहीं, इस मन्त्रका अर्थ कैसा करना चाहिये, 'हन्' धातुके दो अर्थ हैं उनमें यहाँ कौन-सा लिया जाय, इस शंकाकी उत्पत्ति होनेपर अधिदैवतमें और अध्यात्ममें क्या होता है—यह देखिये और उचित निश्चय कीजिये। अधिदैवत पक्षमें सूर्यकी किरणें चन्द्रमातक फैलायी जाती हैं, प्रकाशका विस्तार किया जाता है, यह अर्थ स्पष्ट है। सूर्यकी किरणें मारी नहीं जातीं। यह देखनेसे हमें पता लगा कि 'हन्' धातुका अर्थ 'वध' यहाँ अपेक्षित नहीं है, प्रत्युत फैलाव विस्तार या गति अर्थ ही अपेक्षित है। प्रतिबन्ध या वध अर्थ यहाँ लिया जाता तो सूर्यकी किरणें मारी जानेपर चन्द्रमातक सूर्यकी प्रभा पहुँचेगी कैसे? और सूर्यपुत्री प्रभा (सूर्या सावित्री) का सोम (चन्द्र) के साथ विवाह कैसे होगा? और धूमधामके साथ बरात भी कैसे चलेगी? अर्थात् यहाँ 'हन्' धातुका 'वध' अर्थ अपेक्षित नहीं है।

आध्यात्मिक पक्षमें अपने अन्दर देखिये कि क्या इन्द्रिय-शक्तियाँ मारी जानेसे आत्मा का सुख बढ़ेगा या उनको सुनियमोंसे चलानेसे कल्याण होगा। इसके विवाहका रथ जगत्के मार्गपरसे ऋक्साम मन्त्रोंके द्वारा नियत धर्ममार्गपर ही चलना चाहिये, इसलिये इसके रथके बैल सुशिक्षित होकर मन्त्रोंकी लगामों द्वारा योग्य मार्गपरसे चलाने चाहिये। इत्यादि विचारसे स्पष्ट पता लगता है कि यहाँ भी गोपालन ही अभीष्ट है।

इसी प्रकार विवाह यज्ञमें आनेवाले पारिवारिक सज्जनोंके दुग्धपानके लिये गौवोंको इकट्ठा करना, उनको योग्य मार्गपर चलाना, इधर-उधर भागने न देना योग्य है। उनका वध करनेसे क्या लाभ होगा?

इस दृष्टिसे देखनेसे भी पता लग जाता है कि विवाह संस्कारमें गौओंकी संख्या (multiply) बढ़ाना भी यहाँ अभीष्ट है, या उनको योग्य मार्गसे चलाना अभीष्ट है। ऊपर 'हन्' धातुका अर्थ 'गति' दिया है। इस 'गति' के अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति हैं। ये अर्थ सब व्याकरण-शास्त्रकार मानते हैं। ये अर्थ यदि 'गति' शब्दसे यहाँ लिये जायँ तो 'गावः हन्यन्ते' का अर्थ होगा—गौवोंका ज्ञान प्राप्त करना, गौवोंको चलाना अथवा गौवोंको प्राप्त करना।

गौके साथ 'हन्' प्रयोगका अर्थ

'हन्' धातुका अर्थ ताड़न करना भी है। इस समय मराठी भाषामें यह अर्थ प्रचलित है, (हनन=हाणणें) इस शब्दका अर्थ सोटीसे ताड़न करना है अर्थात् गवालिये हाथमें सोटी लेकर गौओंको जिस दिशामें ले जाना होता है उस दिशामें ले जाते हैं। यह 'हनन' शब्दका अर्थ है। 'हन्' धातु का यह अर्थ लिया जाय तो 'हन्यन्ते गावः' का अर्थ होगा—गौओंको गवालिये जिस मार्गसे जाना हो उस मार्गसे ले जाते हैं। अर्थात् विवाहके प्रसंगमें गौओंको इकट्ठा करते है और इष्ट स्थानपर ले जाते हैं।

कुछ भी हो, यहाँ गौवोंका वध अभीष्ट नहीं है—यह बात स्पष्ट है। श्री० सायणाचार्यजीने भी यहाँ वध अर्थ नहीं किया है- **मघानक्षत्रेषु गावः हन्यन्ते दण्डैः ताड्यन्ते प्रेरणार्थम्**—अर्थात् मघा नक्षत्रके समय गौवें वहाँ पहुँचानके लिये सोटियोंसे ताड़ित होकर प्रेरित की जाती हैं। सूर्यके घरसे चली हुई गौवें सोमके घर पहुँचनेके लिये मार्गमें ठीक मार्गसे चलायी जाती हैं। यहाँ सायण-भाष्यका भाव यह है कि सूर्यदेवने अपनी पुत्रीके विवाहके समय दहेज, स्त्रीधन (या dowry) के रूपमें दी हुई गौवें चन्द्रमाके घर तक पहुँचानेका कार्य करनेके लिये सूर्यदेवके गवालिये गौवें ले जाते हैं और ठीक मार्गसे उनको चलानेके लिये मार्गमें आवश्यक हुआ तो ताड़न करते हैं, अन्तमें वे गौवें सोमके घर पहुँचती हैं और फाल्गुनी नक्षत्रके समय सूर्य-पुत्रीका चन्द्रमाके साथ विवाह होता है। यदि यहाँ 'गौवोंका वध' अर्थ लिया जाय तो दहेजका बीचमें ही नाश होनेसे पुत्रीका भावी पति रुष्ट हो जायगा और विवाहमें आपत्ति आ जायगी। इस कारण 'वध' अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं है।

किसी भी प्रकार विचार करके देखेंगे, तो उनको स्पष्टतासे पता लग जायगा कि यहाँ 'गोवध' अभीष्ट नहीं है। इतना होते हुए भी यूरोपीयन पण्डितोंने इस मन्त्रके आधार से ही लिखा है कि—"The marriage ceremony was accompanied by slaying of oxen, clearly for food," (विवाह संस्कारमें खानेके लिये ही गाय बैल काटे जाते थे)। पूर्वापर सम्बन्ध न देखते हुए ही एकदम कैसे अनुमान लिख मारते हैं—इसका बड़ा आश्चर्य होता है। यूरोपके लोग जो चाहे सो अनुमान करें, परन्तु हमारे लोगोंको तो पूर्वापर-सम्बन्ध देखकर अधिक विचार करके ही अपने अनुमान निकालने चाहिये। अन्यथा ऊपरवाले मन्त्रमें देखिये कि किसी

भी रीतिसे गौका वध सजता ही नहीं, परन्तु यही मन्त्र गोमांस-भक्षणका प्रमाण करके ये लोग पेश करते हैं—इससे और अधिक भूल कोई नहीं हो सकती।

नक्षत्रोंमें 'मघा' नक्षत्र होते ही 'पूर्वा' और 'उत्तरा'—ये फाल्गुनी नक्षत्र आते हैं। चन्द्रमाका तीन रात्रिका प्रवास इनमें होता है। सोमवारके दिन मघा नक्षत्र हुआ तो प्रायः मंगल और बुधके दिनोंमें दोनों फाल्गुनी नक्षत्र आते हैं। इसीलिये दहेज मघा नक्षत्रके समय भेजकर दूसरे या तीसरे दिन विवाह किया जाता है। इस मन्त्रसे यदि कोई अनुमान निकालता है तो यही निकल सकेगा कि वेदके अनुसार दहेजमें गौवें दी जाती हैं और दहेज वरके घर पहुँचनेके पश्चात् विवाह होता है। परन्तु गौवोंके वधका अनुमान तो कदापि नहीं निकल सकता। ऐसा अनुमान निकालना अज्ञानका विलक्षण प्रदर्शन करना ही है। यहाँ 'हन्' धातुका अर्थ क्या है—यह अवश्य देखना चाहिये—

१. हन्=वध करना to kill—यह अर्थ प्रसिद्ध है।

२. हन्=जाना, चलाना, प्रेरणा देना to go, to remove—यह अर्थ व्याकरणाचार्योंने माना है और यह धातु इस अर्थमें क्वचित् भाषामें भी प्रयुक्त होता है। वेद में यह अर्थ अधिक बार आता है और भाषामें कम। वैदिक कोश 'निघण्टु' के २.१४ में यह 'गति' अर्थ दिया है।

३. हन्=रक्षा करना—जैसा 'हस्त-घ्न' में 'घ्न-हन्' का अर्थ 'रक्षा करना' है। 'हस्तघ्न' का अर्थ (Hand guard) 'हाथकी रक्षा करनेवाला' ऐसा होता है। यह प्रयोग वेदमें है (ऋग्वेद ६.७५.१४)।

४. हन्=गुणा करना to multiply—गणितमें यह प्रयोग है। 'घात, हनन, हति, हत' आदि शब्द (multiplication) बढ़ोत्तरी, गुणा अर्थमें प्रयुक्त है।

५. हन्=उड़ाना, बढ़ाना to raise—'तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुः'

(शाकुन्तल १.३२)—घोड़ेके पाँवसे हत अर्थात् उड़ायी हुई धूल—ऐसे वाक्योंमें यह अर्थ होता है।

६. हन्=ताडन करना to beat—जैसा गवालिये सोटीसे पशुओंका समय-समयपर ताड़न करते हैं।

७. हन्=(To ward off; avert रक्षा करना, दूर करना) यह अर्थ महाभारतमें भी है।

८. हन्=to touch; come in contact स्पर्श करना, सम्बन्धमें आना—यह अर्थ वराहमिहिर बृहत्संहितामें ज्योतिष-विषयमें प्रयुक्त है।

६. हन्=to give up; abandon छोड़ देना।

१०. हन्=to obstruct प्रतिबन्ध करना।

'हन्' धातुके इतने अर्थ कोशोंमें हैं। इन अर्थोंमेंसे प्राचीन वेद-मन्त्रोंमें कौन-कौन अर्थ आये हैं, इनका प्रकरण देखकर पूर्वापर संगतिसे ही अर्थ करना चाहिये। 'हन्' धातु जहाँ-जहाँ आ जाय वहाँ-वहाँ उसका 'वध' ही अर्थ लिया जाय तो अर्थका अनर्थ होनेमें विलम्ब नहीं लगेगा।



शवदाहमें गोहत्या

राजा राजेन्द्रलाल मित्र महोदय अपनी अंग्रेजी भाषाकी पुस्तक 'प्राचीन भारतमें गोमांस' के उल्लिखित संस्करणके पृष्ठ २, पंक्तियां ४-६ में लिखते हैं—

> "A supply of beef was deemed an absolute necessity by pious Hindus in their journey from this world to another world, and a cow was invariably killed to be burnt with the dead."

अर्थात्—धार्मिक हिन्दुओं द्वारा इस लोकसे परलोककी यात्रामें गोमांसकी नितान्त आवश्यकता समझी जाती थी और (ऐसे अवसरपर) सर्वदा मुर्देके साथ जलानेके लिये एक गायकी हत्या की जाती थी।

अपने उपरोक्त वाक्योंके साथ उन्होंने अपने एक और अंग्रेजी भाषाके प्रबन्ध 'प्राचीन हिन्दुओंका मृतक-संस्कार' (Funeral ceremonies of Ancient Hindus) की ओर संकेत किया है। खोजनेपर यह प्रबन्ध Journal of Asiatic Society, Volume XXXIX, Part I, No. IV. 1870 के pages 241 to 264 पर मिला, जो नवम्बर, १८७० में किसी अवसर पर वक्तृताके रूपमें पढ़ा गया था। पृष्ठ २५१ पर पंक्ति ३ से १० तक लिखा है—

> "The Aranyaka, after arranging the sacrificial vessels, gives the mantra for covering the corpse with the raw hide of the cow, which should be entire with head, hair and feet, the hairy side being kept upper-most. The mantra for the purpose is addressed to the hide; 'Cuirass, carefully protect this body from the light of Agni; envelope it with thy thick fat and marrow; holding this impudent Agni, desirous of seeing and consuming it by his vigour, allow him not to go astray'."

अर्थात्—यज्ञ पात्रोंको सुव्यवस्थित करनेके बाद, शवको गायके कच्चे चर्मसे ढकनेके लिये आरण्यकमें एक मन्त्रका उल्लेख है, जो गोचर्म, शिरके सहित, बालों सहित, टांगों सहित सम्पूर्ण होना चाहिये;

बालोंकी तरफका भाग ऊपरकी ओरसे रखा जाता है। मन्त्रका चर्मकी ओर लक्ष्य करके कहना है—'वक्षस्थलके कवच, इस शरीरकी अग्निके प्रकाशसे रक्षा करना, अपनी चर्बी और मज्जासे इसको लपेट लेना, अपने तेजसे इसके देखने और भस्म करनेवाले धृष्ट अग्निको रोके रखकर पथभ्रष्ट न होने देना।'

यहाँपर आरण्यकका जो मन्त्र उद्धृत किया गया है वही मन्त्र ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त १६ का ७वाँ मन्त्र भी है।

Vedic Index, Vol. II, पृष्ठ १४७ की ७-६ पंक्तियों में भी लिखा है—

"The ritual of cremation of the dead required the slaughter of a cow as an essential part, the flesh being used to envelope the dead body."

अर्थात्—मृतक-दाह-संस्कारमें एक गायको मारना संस्कारका अनिवार्य अङ्ग था और मांसका उपयोग शवके लपेटनेमें हुआ करता था।

स्वर्गीय पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजीने अपने 'गो-ज्ञान-कोश' प्राचीन खण्ड—वैदिक विभाग, द्वितीय भागकी भूमिकाके पृष्ठ ४-५ पर 'अन्त्य-यज्ञ' शीर्षकके अन्तर्गत समाधानात्मक विवेचन किया है, जिसको यहाँ उद्धृत किया जाता है—

वैदिक धर्मके अनुसार मनुष्यका सब आयुष्य मिलकर एक बड़ा भारी यज्ञ है अर्थात् अपने संपूर्ण जीवनका सबकी भलाईके लिये यज्ञ करना है, इसमें मनुष्यके प्रेतको अन्तिम इष्टि होती है। यह अन्तिम आहुति—अपने शरीरकी अन्तिम आहुति डाल दी, तो जीवनभर चलनेवाले यज्ञकी पूर्णता हुई। यहाँ जीवन यज्ञमय करनेकी कितनी उच्च कल्पना है, यह पाठक देखें। अर्थात् वैदिक धर्मकी दृष्टिसे मुर्देका जलाना केवल उसकी राख करना नहीं है, परन्तु यह एक अन्तिम यज्ञ है और इसमें पूर्णाहुति होनेके कारण यह एक बड़ा भारी यज्ञ है। प्रज्वलित अग्निमें अपने देहकी ही अन्तिम आहुति डालनी होती है, इस दृष्टिसे देखा जाय तो अग्निमें मांसकी—अपने संपूर्ण देहकी—आहुति डालना तो वैदिक धर्मके अनुकूल है ही, परन्तु क्या इसको समांस-यज्ञ कहा जा सकता है ? आजकल समांस-यज्ञका जो तात्पर्य है उससे घोड़ा, गाय, बैलके मांसकी आहुतियाँ वेदीपर चढ़ाना माना जाता है। वह

इस अन्तिम इष्टिसे सर्वथा भिन्न है। अन्तिम इष्टिमें मनुष्य देहकी या किसी अन्य देहकी जो आहुति डाली जाती है वह खानेके लिये नहीं डाली जाती। परन्तु मुर्दा घरमें रखना ही नहीं चाहिये, इसलिये उसको जलाया जाता है और यह अन्तिम यज्ञ माना गया है। इसलिये यदि कोई कहे कि यज्ञमें मांस प्रयुक्त होता है तो वह सत्य है, परन्तु जिस भावमें वह कहा और समझा जाता है वह सत्य भाव नहीं है। अतः हम कहते हैं कि अग्निका नाम 'क्रव्याद' होनेपर भी उससे प्राणीके मांस भक्षणके विषयमें पुष्टि नहीं मिल सकती।

वैदिक समयमें मुर्दे जलानेकी प्रथा होनेके कारण अग्निका नाम 'क्रव्याद' हुआ है। सर्वसाधारण रीतिसे मनुष्य मरते हैं, उनके मुर्दे जलाये जाते हैं, युद्धमें घोड़े, बैल, आदि अनेक पशु मनुष्योंके साथ मरते ही हैं, इन सबको वैदिक समयमें जलाया जाता था। वह प्रथा देखनेसे पाठक जान सकते हैं कि अग्निका नाम 'क्रव्याद' होने पर भी उससे मांसभक्षण सिद्ध नहीं हो सकता।

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च।
नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन्पर्यङ्खयाते ॥

(ऋ० १०.१६.७)

(अग्ने वर्म) अग्निकी ज्वालाएं **(गोभिः)** गौओंसे **(परिव्ययस्व)** बचाओ, **(पीवसा मेदसा च)** गाढ़ी चरबीसे **(सं प्रोर्णुष्व)** ठीक प्रकार आच्छादित करो। ऐसा करनेसे **(हरसा धृष्णुः)** तेजसे घर्षण करनेवाला **(जर्हृषाणः)** आनन्दित होनेवाला **(दधृक् वि धक्ष्यन्)** भस्म करनेवाला अग्नि **(त्वा न इत् पर्यङ्खयाते)** तुझे घेरकर नहीं जलावेगा।

यहाँ 'गोभिः' शब्द है इसलिये यूरोपियन लोग गौके मांससे मुर्देको लपेटनेका अनुमान करते हैं और ऐसे कार्यके लिये गौको काटना आवश्यक समझते हैं। अनेक भारतीय पण्डित भी ऐसा ही मानते हैं। परन्तु यहाँ विचारणीय बात यह है कि इस मंत्रमें 'गोभिः' शब्द बहुवचनमें है संस्कृत व्याकरणके अनुसार इसका अर्थ होता है 'कमसे कम तीन गौओंसे'। मनुष्यके एक मुर्देको मांससे लपेटना हो तो उस कार्यके लिये कमसे कम क्या तीन गौवें आवश्यक होंगी? यदि यह कर्म गोमांससे करना हो तो क्या एक गौसे नहीं होगा? मनुष्यके शरीरसे तीन-चार गुना गायका शरीर होता है, अतः मनुष्यके एक मुर्देको वेष्टन करनेके लिये कमसे कम तीन या अधिक गौवोंकी आवश्यकता नहीं है।

इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि यहाँ कुछ और ही बात होगी। 'गौ' शब्दसे दूध, दही, घी, चमड़ा आदि पदार्थ लिये जाते हैं। यह बात यूरोपियन भी मानते ही हैं। इसलिये देखना चाहिये कि कौनसी चीजके लिये तीन या तीन से अधिक गौओंकी आवश्यकता अन्त्येष्टि कर्ममें पड़ सकती है और जो कार्य केवल एक ही गौसे निभ नहीं सकता।

मांस, चर्म, चर्बी आदि एक गौसे पर्याप्त मात्रामें मिलना सम्भव है, परन्तु केवल घी ही एक ऐसा पदार्थ है कि जो तीनसे अधिक गौवोंसे लेना आवश्यक होगा। मृत शरीरको अग्नि देनेके पूर्व उसको घीसे लिपटा देना आवश्यक होता है। जो लोग हवन करते हैं उनको पता है कि अग्निमें डालनेवाले हविर्द्रव्यपर घी छोड़ा जाता है, समिधाओंको भी घी लगाकर अग्निमें छोड़ा जाता है, फिर इस 'अन्त्य-हवन' में इस शरीर रूपी अन्तिम समिधाको डालनेके समय घीकी आवश्यकता क्यों नहीं होगी ? आजकल समिधाएँ घीमें भिगोनेके लिये जितना घी चाहिये उतना नहीं मिलता, इस लिये समिधाओंपर दो-चार बूंद छिड़का देते हैं, परन्तु शरीर रूपी श्रेष्ठ समिधा अन्त्य-यज्ञमें डालनेके समय वैदिक समयमें कि जिस समय घीकी ऐसी न्यूनता नहीं थी, पूरे शरीरपर घी डाला जाता हो तो इसमें क्या आश्चर्य है ? घीसे विष दूर होता है, शरीर जलनेके समय विषयुक्त वायु हवामें फैलती है, उसको शुद्ध करनेके लिये जितना घी डाला जाय उतना आवश्यक ही है, इससे वायुशुद्धि भी होती है। शरीरके तोलके बराबर घी अन्त्येष्टिमें बर्तना चाहिये ऐसी वैदिक प्रथा थी। आजकल यह कार्य दस-पाँच तोले घीसे हिन्दू कर लेते हैं।

'गौ' शब्दसे गोसे उत्पन्न होनेवाला घी लिया जाता है, यह कोई नयी बात नहीं है और इसको सब एकमतसे मानते हैं। ऐसा होते हुए भी उक्त मन्त्रसे गौ काटनेका अनुमान निकाला जाता है, यह बड़ा आश्चर्य है। गौके बहुवचनकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित नहीं हुआ या जानबूझकर उधर ध्यान नहीं दिया गया और इस कारण यहाँके अर्थका अनर्थ हुआ—यह स्पष्ट बात है। अस्तु।

इस मन्त्रके देखनेसे भी गौ या वशा गौ काटनेकी कल्पना वैदिक समयमें थी—ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता।



क्या विवाह एवं राज्याभिषेकके शुभ अवसरपर चर्मके लिये लाल बैलकी हिंसा होती थी ?

ए० वी० शाह द्वारा सम्पादित अंग्रेजी भाषाकी पुस्तक 'Cow Slaughter–Horns of a Dilemma' (गोवध–द्विविधाकी परिस्थिति) में 'Cow Cult in India' (भारतमें गो-पूजा) शीर्षक प्रबन्धमें मुकन्दलालने पृष्ठ १८ पर लिखा है—

"Slaughter of cows on ceremonial occasions was considered auspicious in ancient India. The bride and bridegroom were to sit on the raw skin of a red bull before the altar. The skin must have been of the red bull sacrificed on the occasion of the marriage ceremony to feed the guests."

अर्थात्—प्राचीन भारतमें विवाहोत्सवके समय गोहत्या शुभ मानी जाती थी और वेदीके सम्मुख वर-वधूको लाल बैलके कच्चे चर्मपर बैठना पड़ता था तथा वह कच्चा चर्म उस लाल बैलका होना चाहिये जो विवाहोत्सवमें आये हुए अतिथियोंको खिलानेके लिये उसी अवसर पर मारा गया हो।

इसके बाद वे लिखते हैं—

"Similarly, on the occasion of the coronation of kings, the raw skin of a red bull was placed under the seat of the king to be anointed. Probably the king had to sit on fresh cow hide to perform the ceremony."

अर्थात्—राजाओंके राजगद्दी पर बैठनेके अवसरपर अभिषेक किये जानेवाले राजाके सिंहासनके नीचे लाल बैलका कच्चा चर्म रक्खा जाता था। सम्भवतः गायके ताजा चमड़ेपर बैठकर ही राजाको अभिषेक पूरा करना पड़ता था।

ए० बी० शाह और मुकन्दीलालका परिचय तथा उनके ज्ञानकी गहराईका उल्लेख 'क्या राजा रन्तिदेवके यहाँ गोवध होता था ?' शीर्षक लेखमें आ चुका है। उसको यहाँ दोहरानेकी आवश्यकता नहीं है।

मुकन्दीलालने उस धर्म-शास्त्रका उद्धरण नहीं दिया जहाँपर इन बातोंका उल्लेख है। इससे अनुमान होता है कि न तो उन्हें स्वयं इस बातका ज्ञान है कि इनका कहाँ उल्लेख है एवं न उन्होंने इसकी गहराईमें जानेकी आवश्यकता समझी। उनका एकमात्र लक्ष्य यही दीखता है कि येनकेनप्रकारेण अपने पद-गौरवका लाभ उठाकर गोहत्याका प्रचार किया जाय। जो हो, उन्होंने जो बात उठाकर साधारण लोगोंको भ्रममें डालनेकी चेष्टा की है उस भ्रमके निवारणार्थ उसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

विवाहोत्सवमें गोहत्या और विवाहोत्सवमें आये हुये अतिथियोंको गोमांस खिलानेके सम्बन्धमें 'क्या विवाह-प्रसंगमें गोहत्या और गोमांस प्रचलित था ?' शीर्षक प्रबन्ध देखिये।

मुकन्दीलालका लिखनेका भाव यह है कि विवाहमें बरातियोंको गोमांस खिलाया जाता था और इसके लिये उसी समय लाल बैल मारा जाता था तथा उस लाल बैलके कच्चे चर्मका ही वर-वधूके लिये बैठनेको आसनकी तरह उपयोग होता था। ऐसा ही ताजा चर्म अभिषेकके समय राजगद्दीपर बैठने वाले राजाके बैठनेके लिये भी होता था। पाठक विचार करें कि बारातके पहुँचनेके बाद उसी समय लाल बैलकी हत्या करना, उसका ताजा चम वर-वधूके बैठनेके लिये उपयोग करना तथा वैसा ही ताजा कच्चा चर्म राजगद्दीपर बैठने वाले राजाके लिये उपयोग करना और उस लाल बैल का मांस बरातियोंको खिलाना कहाँ तक व्यावहारिक है ? उसी समय मारे हुए लाल बैलके ताजा कच्चे चर्मसे रक्त और मांसका रस बहता रहता है जो कितना गन्दा होता है और उससे दुर्गन्ध आतो रहती है। विवाहके या राजतिलक के अवसरकी सजावट आदिमें यह चीज खपती सम्भव भी है क्या ? तिसपर भी मुकन्दीलाल सरीखे लोग ऐसी असम्भाव्य कल्पनासे पूरी स्थितिका विश्लेषण किये बिना ही अपने पद-गौरवकी आड़में लोगोंको भ्रमित करते हैं। आइये, यहाँपर शास्त्र-वाक्योंपर

विचार किया जाय।

आधुनिक कालमें धर्मशास्त्रोंका विस्तृत अध्ययन पाण्डुरंग वामन काणे महोदय द्वारा किया गया था जिसका विस्तृत वर्णन उन्होंने अपने अँग्रेजी भाषाके ग्रन्थ 'धर्मशास्त्रका इतिहास—History of Dharmaśastra में किया है। उस ग्रन्थके दूसरे खण्ड, भाग १ में 'विवाह संस्कार—Ceremonies of Marriage शीर्षकके अन्तर्गत पृष्ठ ५३० के वर्णन से स्पष्ट है कि बैलके चर्मपर केवल वधूको बैठानेका विधान है और वह भी वरके साथ वधू बिदा होकर वरके घर आ जाती है। उसके बाद उसी समय विवाहाग्निमें वरके द्वारा कुछ आहुतियाँ दी जाती हैं। जो जो गृह्यसूत्र उपलब्ध हो सके, उनके मूल पाठसे भी यही बात प्रमाणित होती है। ऐसी अवस्थामें कन्या पक्ष द्वारा बारातियोंको गोमांस खिलानेके लिये उसी समय बैलकी हत्या करके उसके ताजा चर्मके ऊपर वर-वधूको बैठाकर विवाह-संस्कार करानेकी मुकन्दोलालकी बात स्पष्टतया मिथ्या सिद्ध हो जाती है।

आजकल गृह्यसूत्रोंके सब ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। बहुत चेष्टा करनेपर आश्वलायन, काठक, वाराह, बौधायन, पारस्कर, गोभिल, भारद्वाज और खादिर गृह्यसूत्र देखनेको उपलब्ध हो सके हैं।

इन सब जगहोंमें अनडुहके रोहित या लोहित चर्मका उल्लेख है। किन्तु बौधायनगृह्यसूत्रमें रोहित रंगका उल्लेख नहीं है। बैठनेके लिये आसनकी जगह गोचर्मके आसनका प्रचलन साधारणतया देखनेमें नहीं आया। जहाँ चर्मके आसनका उपयोग होता है, वहाँ मृगचर्मका या व्याघ्र-चर्मका ही प्रचलन देखा जाता है। विवाह संस्कारके किसी अंगमें गोचर्मका आसन भी मान लिया जाय तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आसनके लिये गोचर्म प्राप्त करनेको गोवंशकी हिंसा करनी पड़ती थी। अपने आप अपनी मौत मरनेवाले पशुओंके चर्म तो उपलब्ध होते ही हैं जिनको सभी उपयुक्त कामोंमें उपयोगमें लाया जाता है। रोहित या लोहित रंगके गाय-बैल भी मरते ही हैं। यदि विवाहके किसी संस्कारके लिये गोचर्म या रोहित गोचर्मकी आवश्यकता हो तो बिना हिंसाके प्राप्त गोचर्मको भी तो वैसे अवसरोंपर आसनकी जगह उपयोग करनेके लिये रक्खा जा सकता

है। मूल पाठके शब्दोंसे खींच-तान करनेपर भी न तो यह अर्थ निकलता है कि उसी अवसरपर गाय या बैलकी हत्या करके आसनके लिये चर्म प्राप्त करना होता था तथा न उस बैलका मांस बारातियोंको खिलानेका अर्थ निकलता है। जो-जो गृह्यसूत्र उपलब्ध हो सके उनका मूल पाठ नीचे दिया जा रहा है। संस्कृतका ज्ञान रखने वाले पाठक स्वयं देख लें—

१. आश्वलायनगृह्यसूत्र १.८.९—

विवाहाग्निमुपसमाधाय पश्चादस्याऽऽनडुहं चर्माऽऽस्तीर्य प्राग्ग्रीवमुत्तरलोम तस्मिन्नुपविष्टायां समन्वारब्धायाम् । आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिरिति चतसृभिः प्रत्यृचं हुत्वा समञ्जन्तु विश्वेदेवा इति दध्नः प्राश्य प्रतिप्रयच्छेदाज्यशेषेण वाऽनक्ति हृदये ॥९॥

२. पण्डित वासुदेव कृत शांखायनगृह्यसंग्रह (श्री सोमनाथ उपाध्याय द्वारा संशोधित, सन् १९०८ संस्करण)—

आनडुहहोमकर्म वक्ष्यामः। अत्र स्तरणाद्याघाराज्यभागाः पाक्षिकाः। उपलेपनोल्लेखनाघाराज्यभागं कृत्वा ततो लोहिते बलीवर्दचर्मणि वधूमुपवेशयन्ति। ततो वधूः कुशैरन्वारभते पतिर्जुहोति।

३. काठक(लौगाक्षि)गृह्यसूत्र ३.४.४ (२८.४)—

रोहिण्या मूलेन वा यद्वा पुण्योक्तमपरेणाग्निमानडुहे रोहिते चर्मण्युपविश्यापि वा दर्भेष्वेव जयप्रभृतिभिर्हुत्वाग्निरेतु प्रथम इति च।

४. वाराहगृह्यसूत्र (Gaekwad's Oriental Series No. XVIII., Edited by R. Same Sastry B. A., 1921 edition योक्त्रबंधनम् प्रकरण, पृष्ठ १८)—

पश्चादग्ने रोहिते चर्मण्यानडुहे प्राग्ग्रीवे लोमतो दर्भानास्तीर्य तेष वधूमुपवेशयति।

५. बौधायनगृह्यसूत्र १.५.८—

अथैनामानडुहे चर्मण्युपवेशयति—'इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः। इहो सहस्रदक्षिणो रायस्पोषो निषीदतु' इति।

६. पारस्करगृह्यसूत्र १.८.१०—

तां दृढ़पुरुष उन्मथ्य प्राग्वोदग्वाऽनुगुप्त आगार आनडुहे रोहिते चर्मण्युपवेशयति इह गावो निषीदन्त्विहाश्वा इह पूरुषाः। इहो सहस्रदक्षिणो यज्ञ इह पूषा निषीदत्विति।

७. गोभिलगृह्यसूत्र २.२.३—

अपरेणाऽग्निमानडुहं रोहितञ्चर्म प्राग्ग्रीवमुत्तरलोमास्तीर्णं भवति।

८. भारद्वाजगृह्यसूत्र १.१८—

पुनस्तान्यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगता इत्यथैनां गृहानुह्याऽनडुहे रोहिते चर्मण्युपवेशयतीह गावो निषीदन्त्विहाश्वा इह पूरुषाः।

९. खादिरगृह्यसूत्र १.४.२—

ब्राह्मणकुलेऽग्निमुपसमाधाय पश्चादग्नेर्लोहितं चर्मानडुहमुत्तरलोम प्राग्ग्रीवमास्तीर्य वाग्यतामुपवेशयेत्॥

मानवगृह्यसूत्रकी मूल पुस्तक तो नहीं मिली, किन्तु M. J. Dresden का अँग्रेजी अनुवाद मिला है। उसमें भी यही क्रम है कि श्वशुरालयमें आनेके बाद वधूको वैसे आसनपर बैठाते हैं, जिसमें हिंसाकी गन्ध भी नहीं है। उसमें चर्मपर कुशके तृण फैलानेकी बात भी लिखी है अथवा केवल कुशासनपर बैठानेकी बात भी लिखी है। उसको नीचे उद्धृत किया जाता है—

"To the west of fire, he causes the bride to sit down upon a red bull-skin, of which the neck is turned eastward, on the hairy side, after having bestrewn it (i.e. the skin) with Darbha-grass, or (he causes her to) sit down on Darbha-grass (only).

(Manava-Grihyasutra 1.14 7)

मैक्समूलर सरीखे व्यक्ति भी, जिसका उद्देश्य ही हिन्दुओंके मनसे गौकी पूज्य भावना नष्ट करनेका था, अनेक गृह्यसूत्रोंके अंग्रेजी अनुवादमें कहीं भी यह अर्थ खींचतान करके भी नहीं कर सके कि विवाहके अवसरपर उसी समय लाल बैलको मारकर वर-वधूके लिये उसके कच्चे चर्मका आसन बनाया जाता था तथा उसका मांस बारातियों को खिलाया जाता था। (देखिये Sacred Books of the East, edited by F. Max Muller, Vol. XXIX & XXX Grihya-Sutras Part I & II) गृह्यसूत्रोंके अतिरिक्त विवाह-संस्कारकी विधिका वर्णन और तो कहीं है-नहीं। फिर पता नहीं, मुकन्दीलालने यह कहाँसे खोज निकाला कि प्राचीन भारतमें विवाहोत्सवके समय गोहत्या शुभ मानी जाती थी और वेदीके सम्मुख वर-वधूको लाल बैलके कच्चे चर्मपर बैठना पड़ता था तथा वह कच्चा चर्म उस लाल बैलका होना चाहिये जो विवाहोत्सवमें आये हुए अतिथियोंको खिलानेके लिये उसी अवसर पर मारा गया हो।

उपर्युक्त विवेचनसे इतना तो सिद्ध हो जाता है कि विवाहके पश्चात् जब वधू विदा होकर अपने श्वसुरालयमें आती है, वहाँ किसी विधिको पूरा करने के लिये उसको बैलके चर्मके आसनपर बैठना होता भी था तो उसके लिये हिंसा नहीं होती थी।

रोहित शब्दके अर्थ मोनियर-विलियम्स संस्कृत-अंग्रेजी कोशमें निम्न-लिखित भी हैं—

(i) a red deer लाल हरिण
(ii) a red mare लाल घोड़ी
(iii) a red or chestnut horse लाल घोड़ा।

अतः 'रोहिते चर्मणि' वाक्यका अर्थ बैल एवं लाल हरिण, या लाल घोड़ी या लाल घोड़का चर्म भी बन सकता है।

अनडुह् और गोचर्मका अर्थ

बौधायनगृह्यसूत्र, पारस्करगृह्यसूत्र और भारद्वाजगृह्यसूत्रके ऊपर दिये पाठके अनुसार जहाँ 'आनडुहे रोहिते चर्मणि उपवेशयति' वाक्य है वहींपर 'इह गावो निषीदन्तु, इह अश्वाः, इह पूरुषाः' वाक्य भी है, जिसका अर्थ है—'यहीं गायें बैठें, यहीं अश्व और यहीं पुरुष।' संस्कृतमें गौ शब्द

बैल वाचक भी है ! इसका भाव यह हो सकता है कि बारातके लौटनेपर रथोंमें जुते हुए बैल भी वहीं बैठें अर्थात् रहें, वहीं अश्व भी और वहीं पुरुष अर्थात् बाराती भी। एक बैलके या मृगके चर्मपर बैठनेका जितना स्थान होता है उसमें इतने बैल, अश्व और पुरुष कैसे समा सकते हैं ? **'इह गावो निषीदन्तु, इह अश्वाः, इह पूरुषाः'** इस वाक्यको सार्थक करनेके लिये पारस्करगृह्यसूत्रके **'अनुगुप्त आगारे आनडुहे रोहिते चर्मणि उपवेशयति'** का क्या अर्थ सम्भव हो सकता है—इसपर भी विचार करना चाहिये। इसका समाधान पं० श्रीदीनानाथ शास्त्री सारस्वतने अपने **"सनातनधर्मालोक"** के छठे सुमनके पृष्ठ ४३६-४४० पर किया है जिसका संक्षेप नीचे दिया जा रहा है—

१—'रन्तिकोषके' (**अनड्वान् वृषभः प्रोक्तस्त्वनड्वान् मुख्य आलये। नारीयुक् प्रज्वलद्दीपमनडुत् कौतुकं गृहम्**) प्रमाणके अनुसार 'अनडुह्' शब्द मुख्य-गृहका या विवाह-मण्डपस्थित कौतुकागारका वाचक है। **'अनो वहति—इति अनड्वत्'** यह **'अनडुह्'** शब्दका निर्वचन है। पति-पत्नीरूप रथको धारण करनेवाले मुख्य निवासगृहका नाम भी उक्त कोषके अनुसार **'अनडुह्'** ठीक है।

वाचस्पत्य कोषमें **'अनडुह् आसन्नदेशादौ'** लिखा है, जिसका अर्थ है—'समीप प्रदेश' आदिमें 'अनडुह्' शब्दका प्रयोग होता है। यह भी विवाह-मण्डपके निकटके कौतुकागारका वाचक है, जहाँ वधूको या वर और वधू दोनोंको बैठाना उपयुक्त भी है।

२—'रोहिते चर्मणि' का अर्थ लाल चर्म भी हो सकता है एवं लाल हरिण या लाल घोड़ी या घोड़ेका चर्म भी हो सकता है। बैठने के लिये मृगछालाके आसनका उपयोग होता आया है। उपर्युक्त दोनों अर्थोंके अनुसार पारस्करगृह्यसूत्रके १.८.१० सूत्रके अन्तर्गत **'अनुगुप्ते आगारे आनडुहे रोहिते चर्मणि उपवेशयति'** वाक्यका अर्थ होगा—**(अनुगुप्ते)** आच्छादित **(आगारे)** भवनमें **(आनडुहे)** विवाहमण्डपके निकट कौतुकगृहमें **(रोहिते)** मृगचर्मपर **(उपवेशयति)** बैठाता है।

३—बैलका चर्म भी गोचर्म ही कहा जाता है। गोचर्मके क्या-क्या अर्थ हैं, उसपर विचार कीजिए। 'गोचर्म' के पारिभाषिक अर्थ इस प्रकार बताये गये हैं—

(क) याज्ञवल्क्य स्मृतिकी मिताक्षरा टीकामें–

'दशहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्-दण्डनिवर्त्तनम्। दश तान्येव गोचर्म'

अर्थात्—दस हाथका एक दण्ड, तीस दण्डका एक निवर्त्तन होता है। ऐसे दस निवर्त्तनके बराबर भूमिका क्षेत्र गोचर्म कहलाता है।

निवर्त्तनका अर्थ मोनियर-विलियम्स संस्कृत-अंग्रेजी कोष, पृष्ठ ५६०, कालम १ में इस प्रकार है--

a measure of land (20 rods or 200 cubits or 40,000 Hastas square)

अर्थात्—भूमिका एक क्षेत्र जो २० दण्ड या २०० हाथ लम्बी तथा उतनी हो चौड़ी भूमिके बराबर हो।

अंग्रेजी शब्द राड (rod) का अर्थ हिन्दी तथा संस्कृतमें दण्ड भी है। अंग्रेजी शब्द क्युबिट (cubit) का अंग्रेजी कोषके अनुसार अर्थ है—हाथकी कोहनीसे लेकर मध्यमा अंगुलीके सिरे तककी लम्बाई, जो १८ से २२ इंच तक होती है। अंग्रेजी कोषमें एक दण्ड (rod) की लम्बाई ५॥ गज या १६॥ फीट दी है जो लगभग दस हाथके बराबर है। याज्ञवल्क्य स्मृतिमें भी दस हाथका एक दण्ड बताया है जो अंग्रेजी कोषोंसे भी मिलान खाता है। याज्ञवल्क्य स्मृतिके अनुसार एक निवर्त्तन होता है तीस दण्ड लम्बी और तीस दण्ड चौड़ी भूमिके क्षेत्रके बराबर, अर्थात् ३०० हाथ × ३०० हाथ = ९०,००० वर्ग हाथ। किन्तु मोनियर-विलियम्स संस्कृत-अंग्रेजी कोषके अनुसार एक निवर्त्तन २० दण्ड (rod) का अथवा २०० हाथका होता है अर्थात् २०० हाथ लम्बा × २०० हाथ चौड़ा = ४०,००० वर्ग हस्त।

(ख) गोभिलपुत्र-कृत 'गृह्य-संग्रह' १.३९ में—

ऋषभैकशतं यत्र गवां तिष्ठति संवृतम्।
बालवत्स-प्रसूतानां गोचर्म इति संविदुः॥

अर्थात्—जहाँ १ वृषभ (साँड) तथा १०० गौएँ अपने बछड़ों सहित बैठ सकें, वह भूभाग 'गोचर्म' कहलाता है।

उक्त ग्रन्थके चन्द्रकान्त-भाष्यमें बताया है—

गवां शतं वृषश्चैको यत्र तिष्ठेदयन्त्रितः ।
एतद् गोचर्ममात्रं तु प्राहुर्वेदविदो जनाः ॥

अर्थात्—जहाँ १०० गौएँ तथा एक वृषभ (साँड) बिना नियन्त्रणके बैठ सकें उस भूभागको वेदवेत्ता लोग गोचर्म कहते हैं।

(ग) 'पद्मचन्द्रकोष' पृष्ठ १३६ में—

गोचर्मका अर्थ 'पृथिवीका परिमाण १०० गज लम्बा, ३ गजके निकट चौड़ा' किया है।

(घ) बृहस्पतिस्मृतिके नवें श्लोकमें—

सवृषं गोसहस्रं तु यत्र तिष्ठत्यतन्द्रितम् ।
बालवत्सप्रसूतानां तद् गोचर्म इति स्मृतम् ॥

अर्थात्—एक हजार गाय, वृषभ (साँड) और छोटे वत्सों सहित जहाँ सुखपूर्वक बैठ सकें उस परिमाणकी भूमिको गोचर्म कहा जाता है।

गोचर्मका अर्थ मोनियर-विलियम्स संस्कृत-अंग्रेजी कोषके पृष्ठ ३६४ कालम २ में भूमि-क्षेत्रके सम्बन्धमें इस प्रकार दिया है—

१.	A particular measure cf surface (a place large enough for the range of 100 cows, one bull and their calves.	भूमिका वह क्षेत्र जो १०० गायें १ साँड़ और उनके वत्सोंके लिये पर्याप्त हो।	यह (ख) में दी गयी परिभाषासे मिलता है।
२.	or a place 10 time as large;	उपर्युक्त भूमि क्षेत्रसे दस गुणा अधिक।	यह (घ) में दी गयी परिभाषासे मिलता है।
३.	a place 300 feet by 10 broad,	३०० फीट लम्बी और १० फीट चौड़ी भूमि।	यह (ग) में दी गयी परिभाषासे मिलता है।

४.	or a place 30 Dandas long by 1 Danda and 7 Hastas broad.	एक स्थान जो ३० दण्ड लम्बा और एक दण्ड सात हाथ चौड़ा हो।	इसका ढंग (क) में दी गयी परिभाषासे मिलता है, किन्तु वर्ग क्षेत्रफलसे मिलान नहीं खाता।

इस प्रकार 'गोचर्म' उस स्थानका नाम हुआ जहाँ गृह्य-संग्रहके अनुसार शत (१००) गाय, साँड़ और बछड़ों सहित बैठ सकें; अथवा बृहस्पति स्मृतिके अनुसार सहस्र (१०००) गाय—साँड़ और वत्सों सहित समा सकें। ये अर्थ संगत भी होते हैं क्योंकि जहाँ 'चर्मणि उपवेशयति' लिखा है वहाँ 'इह गावो निषीदन्तु, इह अश्वाः, इह पूरुषाः' अर्थात् "यहीं बैल बैठें, यहीं अश्व और यहीं पुरुष। यदि पशु-चर्म ही अर्थ लिया जाय तो एक पशुके चर्मपर उत्सवके अवसरपर एकत्रित इतनी रथोंके बैल, अश्व और पुरुष—सभी कैसे समा सकते हैं। पूर्वोक्त पारिभाषिक अर्थके अनुसार अनेक गाय आदि के बैठने लायक भूमि माननेपर संगति ठीक बैठ जाती है। फलतः शब्दोंका बोलचालका प्रचलित अर्थ ही करना कहीं-कहीं असंगत हो जाया करता है, पूर्वापरके सब प्रसंग देखकर ही किया हुआ अर्थ निर्दोष हुआ करता है। इस प्रकार इसका भाव होगा—'वरके घर पर विवाह मण्डपके निकट भूमिका क्षेत्र इतना पर्याप्त हो, जहाँ उत्सवके समय आये हुए रथोंमें जुते हुए बैल, सवारीके अश्व तथा पुरुष सबको स्थान मिल सके और वहाँपर प्रदीप्त कौतुकागारमें वधूके लिये लाल हरिणके चर्मका आसन हो।

राज्याभिषेकमें चर्मासन

मुकन्दीलाल ने अपने लेखमें राजतिलकके समय राजाको लाल बैलके ताजा व कच्चे चमड़ेपर बैठानेकी बात कही है। जिस प्रकार 'गोचर्म' का भाव विवाहोत्सवके समयके लिये संगत बताया गया है वही भाव राज-तिलकके अवसरके लिये संगत बैठता है क्योंकि राजतिलकके उत्सवके समय भी वैसी ही भीड़ होती है जैसी विवाहोत्सवपर होती है।

राजगद्दीपर बैठनेके समय राजाके लिये क्या-क्या संस्कार होते हैं, इसका वर्णन किस ग्रन्थमें है—यह पता नहीं लगा। राजसूय आदि यज्ञोंमें जो

राज्याभिषेक होता है उसमें कहीं-कहीं बैलके चर्मके आसनका उल्लेख है, किन्तु उसी समय हिंसा करके ताजा कच्चा चर्म आसनके लिये उपयोगमें लिया जाय—ऐसा वर्णन कहीं नहीं मिला। जो-जो वर्णन मिले हैं, उनपर विचार किया जाय।

जानेस कारनेलिस हीष्टरमैन (Johannes Cornclis Heesterman) द्वारा लिखित प्राचीन भारतीय राज्य संस्कार (The Ancient Indian Royal Consecration) नामक पुस्तक देखनेमें आयो जिसके पृष्ठ १०६ पर अध्याय १३ के प्रथम पैरामें निम्नलिखित वर्णन है—

"The unction will be administered to the King while standing up a tiger skin.

[At Mahabhiṣeka, described by Kausika Sutra, likewise a tiger skin is used (17,13). At the Laghvahbiṣeka. however. a bull's hide is used (17,3).]

Besides the tiger skin. Apastamba-śrautsutra and Varah-śrautsutra prescribe also a throne of khadira (खैरकी लकड़ी) Udumbara (गूलर की लकड़ी) on which the tiger skin is to be fastened. The other authorities do not use a throne at the unction. The actual enthronement takes place later, after the chariot drive,"

(मौनियर-विलियम्सके संस्कृत-अंग्रेजी कोशके अनुसार 'खादिर' का अर्थ है-

Acacia Catechu (having very hard wood, the resin of which is used in medicine called Catecheu, Khayar Terra japonica) page 336 Col. 3.

और 'उदुम्बर' का अर्थ है—

The tree Ficus Glomerata—page 196 Col. 3.

अर्थात् राजाका अभिषेक उनको व्याघ्र-चर्मपर खड़े करके किया जायगा। (कौशिक सूत्रके अनुसार महाभिषेकके लिये व्याघ्र-चर्मका आसन होना चाहिये-(सूत्र १७.१३); और लघु-अभिषेकके लिये वृषभचर्मका-(सूत्र १७-३)। व्याघ्रचर्मके अतिरिक्त आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र तथा

वाराह-श्रौतसूत्र के अनुसार खदिर (खैर)की लकड़ी या उदुम्बर (गूलर)की लकड़ीका सिंहासन होना चाहिये और उसपर व्याघ्र चर्म स्थित करना चाहिये। अन्योंके मतानुसार अभिषेकके समय सिंहासनकी आवश्यकता नहीं है, रथकी शोभा-यात्राके पश्चात् ही सिंहासनारोहण होता है।

इसमें कहीं भी यह बात नहीं आती कि व्याघ्रचर्म या वृषभचर्म उसी समय उनकी हिंसा करके प्राप्त किया जाता है और वह कच्चा चर्म होता है। यह सम्भव हो सकता है कि राज्याभिषेकके लिये नया चर्मासन आवश्यक हो। राज्याभिषेक दिन-प्रति-दिन तो होते नहीं, कभी कदाचित् होते हैं, जिनके लिये वैसा चर्म बिना और किसी काममें लाये रक्खा जा सकता है और उसे विना किसी काममें लाये हुए नये चर्मका उपयोग राज्याभिषेकके समय किया जा सकता है। नये चर्मका अर्थ उसी समय हिंसा करके प्राप्त कच्चे चर्मसे नहीं हो सकता। जो चर्म और किसी काममें कभी भी न लिया हो और केवल भंडारमें रक्खा हो वह नया चर्म ही है। जो-जो श्रौतसूत्र मिल सके उनमें जहाँ-जहाँ चर्मासनका उल्लेख देखनेमें आया उसके मूल पाठ भी संस्कृत जानने वाले पाठकोंकी जानकारीके लिये उद्धृत किये जाते हैं जिससे यह समझमें आ सके कि नया चर्मासन उसी समय हिंसा करके प्राप्त कच्चे चर्मका आसन नहीं है—

१. आपस्तम्बीय श्रौतसूत्र—

अग्रेण प्रशास्तुर्धिष्णियं खादिरीमौदुम्बरीं वासन्दीं प्रतिष्ठाप्यसोमस्य त्विषिरसीति तस्यां शार्दूलचर्म प्राचीनग्रीवमुत्तरलोमास्तीर्यामृतमसीति तस्मिञ्छतमानं हिरण्यं निधाय दिद्योन्मा पाहीति सौवर्णेन शतमानेन शतक्षरेण शतकृष्णलेन वा यजमानस्य शीर्षन्नधि निधत्ते। (१८.१५.५)

उपर्युक्त वर्णन ऊपर कथित 'जानेस कारनेलिस हीस्टरमैन' की अंग्रेजी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय राज्य संस्कार' में कथित सिंहासनके लिये व्यवहृत लकड़ीके वर्णनसे मिलता है।

२, कात्यायन श्रौतसूत्र—

मरुत्वतीयान्ते पात्राणि पूर्वेण व्याघ्रचर्मास्तृणाति सोमस्य त्विषिरिति। (१५.५.१)

३ बोधायनश्रौतसूत्र—

अज यजमानायतने शार्दूलचर्म प्राचीनग्रीवमुत्तरलोमोपस्तृणाति । (१२.१०)

४. वाराहश्रौतसूत्र—

सोमस्य त्विषिरसीति व्याघ्रचर्म विवेष्ट्यासन्द्यामास्तृणाति । (३.२.४३)

राजाओंके बैठनेके लिये जो वस्तु व्यवहृत होती है उसका नाम ही सिंहासन (सिंह+आसन) है जिसका अर्थ—सिंहसे बना आसन। श्रौतसूत्रोंमें भी व्याघ्र-चर्मके आसनका उल्लेख ही प्रायः मिलता है। जानेस कारनेलिस हीस्टरमैन महोदयने अपनी अंग्रेजीकी 'प्राचीन भारतीय राज्यसंस्कार' पुस्तकमें कौशिक सूत्रके अनुसार राजाके लघु अभिषेकके लिये वृषभ-चर्मके आसनका उल्लेख किया है जो ठीक हो सकता है। हमको कौशिक-सूत्रका मूल ग्रन्थ देखनेको नहीं मिल पाया। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि वह वृषभ-चर्म तत्काल मारे हुए वृषभका कच्चा चर्म होता हो।



क्या याज्ञवल्क्य नरम गोमांस खाते थे ?

अँग्रेजी भाषाकी पुस्तक 'वैदिक इण्डेक्स' खण्ड २, पृष्ठ १४५ पर मैक्डोनेल और कीथ महोदय 'मांस' शीर्षकके अन्तर्गत लिखते हैं—

"The great sage Yajnavalkya was wont to eat the meat of milch cows and bullocks (dhenv-anaduha) if only it was amsala ('firm' or 'tender'.) (Satapatha Brahmana, iii.1,2,21).

अर्थात्—याज्ञवल्क्य महर्षि दूध देनेवाली गायें और बैलों (धेनु-अनडुहा) का मांस यदि वह अंसल (स्थूल firm और कोमल tender) हो तो ही खानेके अभ्यस्त थे। (शतपथ ब्राह्मण ३.१.२.२१)।

इन लोगोंकी देखा-देखी, बिना गहराईमें गये हमारे कई भारतीय महोदय भी उन्हींकी रागमें अपनी भी राग अलापने लगते हैं।

इस विषयका पं० श्रीदीनानाथजी शास्त्री सारस्वतने अपनी पुस्तक 'सनातनधर्मालोक' छठे सुमनके पृष्ठ ३७५-३८० पर विशद विवेचन किया है, जिसका सारांश पाठकोंकी जानकारीके लिये नीचे दिया जा रहा है।

शतपथ ब्राह्मण ३.१.२.२१ कण्डिकाका मूल पाठ इस प्रकार है—

"अथ एनं (यजमानं) शालां प्रपादयति। स धेन्वै च अनडुहश्च नाश्नीयात्। धेन्वनडुहौ वै इदं सर्वं बिभृतः। ते देवा अब्रुवन्—धेन्वनडुहौ वै इदं सर्वं बिभृतः हन्त। यदन्येषां वयसां वीर्यम्, तद् धेन्वनडुहयोर्दधाम—इति। यद् अन्येषां वयसां वीर्यमासीत्; तद् धेन्वनडुहयोरदधुः। तस्माद् धेनुश्चैव अनड्वांश्च भूयिष्ठं भुङ्क्तः। तद् ह एतत् सर्वाश्यमिव, यो धेन्वडुहयोरश्नीयात्। अन्तगतिरिव तं ह अभिद्रुतमभिजनितौ जायायै गर्भं निरवधीदिति पापमकद्—इति पापी कीर्तिः। तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्। तदु ह उवाच याज्ञवल्क्यः—अश्नाम्येव अहम् अंसलं चेद् भवतीति" (३.१.२.२१)

वेदमें गौ और बैलको अवध्य कहा है। फिर गौ और बैलके किसी भी प्रकारके मांस खानेका प्रश्न ही नहीं उठता। लुप्त-तद्धित-प्रक्रियाके अनुसार 'धेनु' (गौ) शब्दसे धेनुसे उत्पन्न पदार्थ अर्थात् दूध और दूधसे बनी वस्तुएँ एवं 'अनुडुह्' (बैल) शब्दसे बैलके द्वारा कृषिसे उत्पन्न खाद्य वस्तुएँ ही मानी गयी है।

शतपथका यह प्रकरण ही भिन्न है। सायणाचार्यने उसे स्पष्ट कर दिया है। जब यजमान क्षौर कराकर स्नान करके वस्त्र पहिरे, तब अध्वर्यु उसका शालामें प्रवेश कराये। तब यजमान यज्ञ-दीक्षाकी पूर्तिके लिये उपवास करे, तब गोदुग्धसे निर्मित मलाई-रवड़ी आदि, तथा बैलके खेतीसे प्राप्त अन्नादि भी न खावे। यहाँ श्रीसायणके शब्द ये हैं—

> **"अस्यापि (शालाप्रवेश-कर्तुः) अशनकालत्वाद् अत्र अशने कंचिद् नियममाह—धेन्वं-धेनोः क्षीरादिकम्, अनडुहः सम्बन्धि कर्षणसाध्य-मित्यर्थः, तदुभयं नाश्नीयात्।······ तद् अश्नतः सर्वाशनं भवति, तस्य च जायाया गर्भ-सम्भवे सति तत् सर्वाशिनं तं रेतोरूपेण परिणतं गर्भं हिंस्यात्, तत् पापकीर्तिः स्यात्। तद् उभयोः (धेन्वनडुहयोः) (पायसम्) अन्नं (च) नाश्नीयात् तत्र याज्ञवल्क्यपक्षमाह=चेत्-यस्माद् उभया-(धेन्वनडुहा-)न्नाशने शरीरम् अंसलं [बलवद्] भवति, तस्मात् तयोरन्नमश्नीयामेव।"**

सायणाचार्यने स्पष्ट रूपसे गायका दूध और बैलकी खेतीसे प्राप्त अन्न आदि अर्थ दिया है। इसमें मांसका उल्लेख ही नहीं।

याज्ञवल्क्य यजमान नहीं हैं जिनके लिये उपवास करना आवश्यक हो। वे पुरोहित हैं। यजमानके लिये यज्ञमें उपवासका विधान दिया गया है। इसपर याज्ञवल्क्य पुरोहित होनेके नाते कहते हैं—**अश्नामि एव अहं अंसलं चेद् भवति इति।** मैं 'अंसल' तो खा सकता हूँ। अथवा यह अर्थ भी किया जा सकता है कि याज्ञवल्क्यका पक्ष है कि यज्ञकर्त्ता सर्वथा अनशन करें तो यज्ञ दीर्घकालीन होनेसे दुर्बलताके कारण वह यज्ञ कैसे कर सकेगा ? तब उसको शरीरका आधार बनाये रखनेको कुछ तो खाना ही चाहिये। अतः याज्ञवल्क्यका कहना है कि यज्ञकर्त्ता रूपमें भी मैं अंसल खा सकता हूँ—

ऐसा मेरा मत है। अतः उनके अनुयायी यज्ञकर्त्ता भी उस प्रकारकी वस्तु खा सकते हैं।

प्रतिपक्षियोंने धेनु और अनडुह् के 'अंसल' का अर्थ उनका 'नरम मांस' किया है जो किसी प्रकार संगत नहीं है। युवा धेनु और अनडुहका मांस नरम नहीं होता, गो-वत्सका माँस ही नरम होता है। यहाँ गो-वत्सका न तो मूलमें उल्लेख है और न प्रतिपक्षियोंके वाक्योंमें।

'अंसल' का अर्थ 'पशु शरीरका मांस' है ही नहीं। पाणिनिके सूत्र ५.२.९८ 'वत्सांसाभ्यां कामबले' के अनुसार 'अंसल' का अर्थ 'बलकारक' होता है। अमरकोप २.६.४४ में भी 'अंसल' का अर्थ 'मांसलोंऽसलः' दिया है जिसका भाव है 'अंसल मांसल होता है'। मांसके लिये मांसल कहते नहीं बनता। बलकारक रबड़ी-मलाई अथवा फल मेवे आदि जैसी वस्तुओंके लिये मांसल कहना बन सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि 'अंसल' शब्दका अर्थ 'पशु-मांस' नहीं है। 'अंसल' का 'नरम मांस' अर्थ में कोई भी प्रमाण नहीं है। 'अंसल' का वास्तविक अर्थ पुष्टिकारक या बलकारक ही है।

अतः पुरोहितके नाते अथवा यज्ञकर्त्ताके रूपमें भी याज्ञवल्क्य बलकारक दूध या दूधसे उत्पन्न मक्खन, मलाई, रबड़ी या खीर खा सकते हैं तथा उनके अनुयायी भी वैसा कर सकते है अथवा उन वस्तुओंका निषेध होनेसे पुष्टिकारक फल, मेवे आदि खा सकते हैं जो न धेनुसे उत्पन्न है और न अनडुह (बैल) के द्वारा की गयी खेतीसे; इससे शतपथ ब्राह्मणके 'तस्माद् धेनु-अनडुहयोः न अश्नीयात्' निषेध वाक्योंकी भी रक्षा हो जाती है।



क्या अगस्त्यने सौ साँड मारे थे ?

अंग्रेजी भाषाकी पुस्तक 'वैदिक इण्डेक्स', खण्ड २, पृष्ठ १४५ पर मैकडोनेल और कीथ महोदय 'मांस' शीर्षकके अन्तर्गत लिखते हैं--

"The slaughter of a hundred bulls (ukṣan) was credited to one sacrificer, Agastya. (Taittiriya Brahmana, ii,7,11.1 ; Pancavimsa Brahmana, xxi.14.5).

अर्थात्—एक सौ साँड़ों की हत्या एक यज्ञकर्त्ता अगस्त्यके द्वारा की गयी थी (तैत्तिरीय ब्राह्मण २.७.११.१; पञ्चविंश ब्राह्मण २१.१४.५)।

तैत्तिरीय ब्राह्मण २.७.११.१ का मूल पाठ कोष्ठकमें हिन्दी भावार्थ सहित नीचे दिया जा रहा है—

अगस्त्यो (अगस्त्यजीने) **मरुद्भ्यः** (मरुत् देवताओंके लिये) **उक्षणः** (साँड़ोंका) **प्रोक्षत्** (प्रोक्षण किया)। **तान्** (उनको) **इन्द्रः** (इन्द्र देवता) **आदत्त** (ले गये)। **ते** (वे मरुत् देवता) **एनं** (इसपर) **वज्रम्** (वज्र) **उद्यत्य** (उठाकर) **अभ्यायन्त** (टूट पड़े)। **तान्** (उनको) **अगस्त्यः** (अगस्त्यजी) **चैव** (और) **इन्द्रः च** (इन्द्रजीने) **कयाशुभीयेन** (ऋग्वेदके कयाशुभीय सूक्तसे) **अशमयताम्** (शान्त किया)। **तान्** (उन्हें) **शान्तान्** (शान्त होनेपर) **उपाह्वयत** (समीप बुलाया)। **यत्** (जो) **कयाशुभीयम्** (कयाशुभीय सूक्त है) (वह) **भवति शान्त्यै** (शान्तिके लिये होता है)॥

पञ्चविंश ब्राह्मण (जो ताण्ड्यमहाब्राह्मणके नामसे प्रसिद्ध है) के २१.१४.५ का भी मूल पाठ कोष्ठकोंमें हिन्दी भावार्थ सहित नीचे दिया जा रहा है—

अगस्त्यो वै (अगस्त्यजीने) **मरुद्भ्यः** (मरुत् देवताओंके लिये) **उक्षणः** (साँड़का) **प्रोक्षत्** (प्रोक्षण किया—consecrated by sprinkling)। **तान्** (उन बैलोंको) **इन्द्राय** (इन्द्रके लिये) **अबध्नात्** (बाँध

दिया)। ते (वे मरुत् देवता) **वज्रम्** (वज्र) **आदाय** (लेकर) **अभ्यपतन्** (टूट पड़े)। **स** (उन्होंने, अगस्त्यने) **एतत्** (यह) **कयाशुभीयम्** (कयाशुभीय सूक्त) **अपश्यत्** (देखा)। **तेन** (इससे) **अशमयत्** (उन मरुत् देवताओंके कोपका शमन किया)।

Monier-Williams के संस्कृत-अंग्रेजी कोशमें 'प्रोक्षण' का अर्थ consecretion by sprinkling किया है जिसका अर्थ है जलके छींटोंके द्वारा पवित्रीकरण। यहाँ पवित्रीकरणका भाव पूर्वापर प्रसंगसे भी हिंसाके लिये नहीं हो सकता। वेदोंमें गोवंशको सभी प्रकारसे अघ्न्य—अबध्य बताया गया है। लेकिन गोमांस-लोलुपोंको सर्वत्र गोहिंसा ही दृष्टिगोचर होती है, जैसे कामी पुरुषकी अन्तदृष्टिमें जाग्रत्में भी नारी ही बसी रहती है और स्वप्नमें उसीका साथ बना रहता है। जब गोवंश सब प्रकारसे अबध्य है तो यह 'प्रोक्षण' दानके निमित्त माननेमें कोई भी बाधा नहीं आती है।



परिशिष्ट

पाश्चात्य संस्कृतज्ञोंकी नीयत

(पृष्ठ ४९ पर अन्तमें पढ़ा जाय)

(ग) भारतमें आर्योंके अन्य देशसे आनेके अत्यन्त काल्पनिक और निराधार सिद्धान्तका प्रमुखतासे प्रचार किया जिससे भारत और मिश्र आदि देशोंके प्रथम राज्याभिषिक्त मनुका, मनुके यशस्वी पुत्र इक्ष्वाकुका, शकुन्तलाके यशस्वीपुत्र चक्रवर्ती भरतका, गंगाके प्रवाहका परिवर्तन करनेवाले भगीरथका, जिनके नामके पीछे पुण्यभूमिका नाम कुरुक्षेत्र पड़ा उन कुरुका, दाशरथि श्रीरामका एवं अन्य अनेक राजाओंका नामोनिशान ही मिट ज ता है।

(घ) वैदिक ग्रन्थोंका पूर्णरूपसे गलत अनुवाद किया और वैदिक सभ्यताका मिथ्या वर्णन किया।

(ङ) संस्कृत भाषाको मातृभाषा स्वीकार नहीं होने दिया जो कमसे कम भारत-यूरोपीय संघकी मातृभाषा थी, जिसका फ्रांज बाप (Franz Bopp) ने बड़ी योग्यताके साथ प्रतिपादन किया था और प्राचीन भारतीय लेखकोंने भी जिसका बहुधा उल्लेख किया है।

इन सब बातोंका हमको कोई दुःख नहीं है, क्योंकि संस्कृत-अध्ययनके ऐसे पक्षपातवाले विदेशी मार्गदर्शकोंसे और आशा ही क्या की जा सकती थी।

यह थोड़ी-सो चर्चा करते हुए, हम नम्रतापूर्वक यही प्रार्थना करते हैं कि भारतवर्षके सभी विचारशील विद्वान इस सत्यको समझें, जिससे कि आजकलके राजनैतिक और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यके युगमें पश्चिमकी बौद्धिक गुलामीको वे दूर फेंक सकें।

क्या बृहदारण्यक उपनिषद्में गोमांस-भक्षणका विधान है?

जगद्गुरु श्री आदि-शंकराचार्यकी टीका

(पृष्ठ ६८ के अन्तमें पढ़ा जाय)

बृहदारण्यक उपनिषद्की गोमांसके विधानके सम्बन्धकी मतभेदवाली जिस ६.४.१८ कण्डिकाका उल्लेख किया जाता है, उसकी जगद्गुरु श्रीआदि-शंकराचार्यकी टीकाका उल्लेख करते हुए कई महानुभाव कहते हैं कि उस टीकासे यह स्पष्ट है कि जगद्गुरु श्रीआदि-शंकराचार्यने भी चारों वेदोंमें पारंगत सन्तानके इच्छुक दम्पतीके लिये गोमांस मिश्रित पुलावके खानेके विधानको स्वीकार किया है। उस टीकाकी शब्दावली इस प्रकार है—

"विविधं गीतो विगीतः प्रख्यात इत्यर्थः। समितिंगमः सभां गच्छतीति प्रगल्भ इत्यर्थः। पाण्डित्यस्य पृथग्ग्रहणात्। शुश्रूषितां श्रोतुमिष्टां रमणीयां वाचं भाषिता संस्कृताया अर्थवत्या वाचो भाषितेत्यर्थः।

मांसमिश्रमोदनं मांसौदनम्। तन्मांसनियमार्थमाह—औक्षेण वा मांसेन। उक्षा सेचनसमर्थः पुंगवस्तदीयं मांसम्। ऋषभस्ततोऽप्यधिक-वयास्तदीयमार्षभं मांसम्।"

इनमेंसे पहले अंशके अर्थमें तो कोई मतभेद है नहीं, जो इस प्रकार है—

"नाना प्रकारसे जिसकी महत्ता गायी जाय, वह विगीत कहलाता है। विगीत अर्थात् प्रख्यात। समितिंगम—विद्वानोंकी सभामें जानेवाला निर्भीक या प्रगल्भ। समितिंगमः का अर्थ विद्वान् या पण्डित इसलिये नहीं किया गया कि मन्त्रमें पाण्डित्यका पृथक् ग्रहण देखा जाता है। शुश्रूषितां—सुननेमें प्रिय, रमणीयवाणीका वक्ता अर्थात् संस्कारयुक्त सार्थक वाणी बोलनेवाला।"

दूसरे अंशका शब्दार्थ इस प्रकार बनता है—

"मांस मिश्रित ओदन मांसौदन। उस मांसको नियमित करनेके लिये कहते हैं—या तो उक्षाका मांस, उक्षा—सेचन-समर्थ-पुंगव—उसका मांस। अथवा ऋषभका जो उससे भी अधिक वयसका हो, उसका आर्षभ मांस।"

यह तो हुआ शब्दार्थ। जगद्गुरु श्रीआदि-शंकराचार्यने न तो यह स्पष्ट किया है कि यह पशु-मांस हो और न यह स्पष्ट किया है कि फलौषधिका मांस (गूदा) हो। ऐसी हालतमें पूर्वापर प्रसंगके अनुसार हमको स्वयं विचार करना होगा कि यहाँ पशु-मांस समीचीन है या फलौषधिका मांस (गूदा-रस आदि)। 'सेचन समर्थ पुंगव' या 'उससे भी अधिक वयसका ऋषभ' इनके अर्थोंपर विचार करनेसे बात स्पष्ट हो जायगी। 'सेचन-समर्थ' के अर्थ 'गर्भाधानमें समर्थ' में कोई मतभेदकी बात नहीं है। 'उक्षा' 'पुंगव' 'ऋषभ' और 'वयस' शब्दोंका अर्थ विचारणीय है।

'उक्षा' शब्दके अर्थका विवेचन पहिले हो चुका है।

मोनियर-विलियम्सके संस्कृत-अंग्रेजी कोशमें 'पुंगव' का अर्थ पृष्ठ ६३०, कालम ३ में नीचेसे ८-११ पंक्तियों में इस प्रकार दिया है—

a bull, a hero, eminent person, chief of, a kind of drug.

एक साँड़, एक वीर, प्रसिद्ध पुरुष, नायक, एक प्रकारकी औषधि। 'उक्षा—सेचनसमर्थः पुंगव' के अर्थ इस प्रकार बनेंगे—

१. गर्भाधानमें समर्थ श्रेष्ठ साँड़
२. गर्भाधानमें समर्थ वीर
३. गर्भाधानमें समर्थ प्रसिद्ध पुरुष
४. गर्भाधानमें समर्थ नायक
५. गर्भाधानमें समर्थ एक प्रकारकी औषधि।

आयुर्वेदशास्त्रमें गर्भाधानमें समर्थ औषधिको बाजीकरण औषधि कहा जाता है, सोमरस भी बाजीकरण औषधि है जो देवगणको बहुत प्रिय है। हिन्दू धर्मशास्त्रोंके अनुसार देवयोनि पुण्योंका भोग भोगनेके लिये मिलती है जिसमें अपनी-अपनी वासनाके अनुसार सभी भोग सम्मिलित हैं। पुराणोंमें पुण्यभोगी देवताओंकी कामुकताकी अनेक कथाएँ मिलती हैं। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि पुण्यभोगी देवताओंको अपनी इस प्रकारकी सामर्थ्य बनाये रखनेके लिये गर्भाधानमें समर्थ सोमरस औषधि बहुत प्रिय हो। अब पाठक स्वयं विचार करें कि पूर्वापर प्रसंगके अनुसार उपर्युक्त पाँचों अर्थोंमें-से कौनसा अर्थ समीचीन होगा? पूर्वापर प्रसंगके अनुसार 'उक्षा सेचनसमर्थ पुंगव' का समीचीन अर्थ होगा 'गर्भाधानमें समर्थ औषधि उक्षा—सोमरस'।

'ततः अपि अधिक वयाः' का अर्थ होता है 'उससे भी अधिक वयसका'। 'वय' शब्द 'वयस्' से बनता है। मोनियर-विलियम्स संस्कृत-अंग्रेजी कोशमें 'वयस्' के अर्थ पृष्ठ ९२०, कालम २-३ में इस प्रकार दिये हैं—

1. enjoyment, food, meal, oblation;
2. energy (both bodily and mental), strength, health, vigour, power, might ;
3. vigourous age, youth, prime of life, any period of life, age.

अर्थात्—. आनन्दोपभोग, खाद्य, भोजन, यज्ञकी आहुति ;

२. शक्ति, स्वास्थ्य, पौरुष, सामर्थ्य ;

३. ओजस्वी आयु, यौवन, जीवनका सार भाग, जीवनका कोई भाग, आयु ।

इनके अनुसार 'ततः अपि अधिक-वयाः' का अर्थ बनेगा—

१. उससे भी अधिक आनन्ददायक
२. उससे भी अधिक पौरुषवान्
३. उससे भी अधिक ओजस्वी आयु

'ऋषभ' का मोनियर विलियम्स संस्कृत-अंग्रेजी कोषके अर्थोंका विवरण पहिले आ चुका है। अमरकोषमें वनौषधिवर्गके अन्तर्गत २।११६ में लिखा है—

"शृङ्गी तु ऋषभो वृषः—काकड़ासींगीके नाम शृङ्गी, ऋषभ एवं वृष हैं।" यह काकड़ासींगी भी शुक्रवर्द्धक औषधि है।

यदि यहाँपर गोवंशके ऋषभका मांस माना जाय तो 'ऋषभः ततः अपि अधिक वयाः' का अर्थ बनेगा—'गोवंशके गर्भाधानमें समर्थ उक्षासे भी अधिक आयु वाला गोवंशका ऋषभ'। किन्तु वस्तुस्थिति यह होती है कि गर्भाधानके लिये समर्थ ओजस्वी आयु चढ़ती हुई युवा अवस्था होती है, ढलती हुई नहीं। अतः यह अर्थ बहुत उपयुक्त नहीं बैठता।

पूर्वापर प्रसंगके अनुसार 'ऋषभः ततः अपि अधिक-वयाः' का अर्थ बनेगा "उक्षा—सोमरससे अधिक पौरुषवान् 'ऋषभ' नामक अष्टवर्गकी औषधि," जिसका आयुर्वेद-चिकित्सक धनीवर्गको अपनी कामोपभोग-सामर्थ्यको नष्ट होनेसे बचाये रखनेके लिये स्वच्छन्दतासे सेवन कराया करते हैं। ये अष्टवर्गकी औषधि शुक्रवर्द्धक होती है।

वेदोंमें गोवंश अबध्य होनेके कारण गोमांस खानेका विधान असम्भव है और इस अध्याय-ब्राह्मणकी प्रथम कण्डिकामें वर्णित वस्तुओंमें—जिनका

सार उत्तम, शुद्ध, सात्विक शुक्र होता है—कहीं पशुमांसका उल्लेख नहीं है एवं वेदोंमें पारंगत सात्विक सन्तान उत्पादनके लिये शुद्ध सात्विक शुक्र ही आवश्यक है। अतः यहाँपर उक्षा और ऋषभका अर्थ पशुमांस कदापि नहीं बन सकता है, केवल शुद्ध फलौषधिका ही मांस (गूदा—सार) हो सकता है।

गोवंशके साँड़वाचक 'उक्षा' और 'ऋषभ' शब्दोंका अर्थ किसी भी कोशमें ऐसा नहीं मिलता जिससे यह समझा जाय कि 'उक्षा' छोटी आयुका गर्भाधानमें समर्थ साँड़ है और 'ऋषभ' उससे बड़ी आयुका गर्भाधानमें समर्थ साँड़ है। यदि जगद्गुरु श्रीआदि-शंकराचार्यका मत 'उक्षा, और 'ऋषभ' दोनोंका अर्थ गर्भाधानमें समर्थ साँड़का मान लिया जाय चाहे उनमें-से एक छोटी आयुका हो और दूसरा उससे बड़ी आयुका हो तब 'उक्षा' और ऋषभ' दोनोंका मिलकर अर्थ गोवंशका ऐसी आयुका साँड़ बनेगा जिस आयु तक वह गर्भाधानमें समर्थ है। यदि मांसौदनमें किसी भी आयुके गर्भाधानमें समर्थ गोवंशके साँड़का मांस अभिप्रेत होता तो इस कण्डिकाके मूल पाठमें शब्दावली होती 'गोवंश औक्षेण' अथवा 'गोवंशार्षभेण' और जगद्गुरु श्रीआदि-शंकराचार्य भी केवल 'सेचन समर्थः गोवंश पुंगवः तदीय-मांसम्' लिखते जिससे यह स्पष्ट हो जाता कि यहाँ गोवंशके गर्भाधानमें समर्थ श्रेष्ठ साँड़का मांस अभिप्रेत है।

गर्भाधानमें समर्थ श्रेष्ठ साँड़ बहुत उच्च कोटिके और गिने-चुने होते हैं। उनका वध करना अभीष्ट नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त मूल कण्डिकाके शब्द हैं 'औक्षेण वा आर्षभेण वा' अर्थात् 'या तो उक्षाका अथवा ऋषभका'। 'वा···वा' याने 'या तो···अथवा' विभेदक निपातके साथ 'उक्षा' और 'ऋषभ' एकजातीय वस्तु न होकर पृथक्-पृथक् होगी। अतएव यह कदापि संभव नहीं कि जगद्गुरु श्रीआदि-शंकराचार्य सरीखे उद्भट विद्वान् 'वा···वा'—'या तो···अथवा' विभेदक निपातके साथ 'उक्षा' और 'ऋषभ' दोनोंका ही अर्थ गर्भाधानमें समर्थ गोवंशका साँड़ मानें; निश्चय ही उनकी टीकाके 'उक्षा सेचनसमर्थः पुंगव' का अर्थ 'गर्भाधानमें समर्थ एक प्रकारकी औषधि—सोमरस' होगा और 'ऋषभः ततः अपि अधिक वयाः' का अर्थ 'उक्षा याने सोमरससे भी अधिक पौरुषवान् ऋषभ नामक अष्टवर्गकी औषधि'।

क्या राजा रन्तिदेवके यहाँ गोवध होता था ?

('चर्मण्वती नदी कहलानेके संभाव्य कारण' के पृष्ठ ८२ पर पंक्ति १६ और १७ के बीचमें पढ़ा जाय)

श्रीसुधीरकुमार गुप्तने महाकवि कालीदासके 'मेघदूत' का शाब्दिक हिन्दी अनुवाद और टिप्पणी लिखी है जिसमें मल्लीनाथकी टीकाका भी समावेश किया है। पूर्वमेघके राजा रन्तिदेवकी कीर्ति सम्बन्धी ४९वें श्लोककी टिप्पणीमें वे लिखते हैं—

"ताण्डच महाब्राह्मण १९.१३.१ में 'गोसवः क्रतुः' का अर्थ— 'अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः' किया है। 'रन्तिदेव' का अर्थ— 'रन्तिः रमणं देवानां यस्मिन् सः'—जिसमें विद्वान रुचि लेते हैं; अर्थात् विद्वानोंको सुखदायक और उनसे आदृत पुरुष। 'रन्ति' पद यजुर्वेद २२.१९ में इसी अर्थमें आया है (देखिये शतपथ ब्राह्मण १३.१.६.२)। इस प्रकार देवपूज्य महाराज रन्तिदेवकी स्वराज्य-रक्षा ही 'सुरभितनयालम्भ' यज्ञ है। इसकी कीर्तिकी परिचायिका चर्मण्वती नदी है। उसीके किनारे इन महाराजने अपनी दान-वीरता, विद्वत्प्रेम, वीरकर्म, प्रजापालन आदिका परिचय दिया था। 'चर्मण्वती' पद 'चर्मन्+वत्+ई' से बनता है। चर्मका अर्थ है— 'चरति गच्छति येन तत् चर्म' (देखिये उणादि कोष ४।११५, ऋषि दयानन्दको टीका, अजमेर १९८९ सं० वि०)—जिससे जाता है— कीर्तिको प्राप्त होता है वह चर्म है।' अतः रन्तिदेवकी कीर्तिका परिचय देनेके कारण यह चर्मण्वती कहलाती है।

इसका एक अन्य अर्थ भी हो सकता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.९.७.५ (प्राणा वै सुरभयः) में 'सुरभयः' का अर्थ 'प्राणाः' किया है। अतः — सुरभितनयाः (वीरपुरुषा, योधाः इति यावत्) तेषाम् आलम्भः (प्राप्तिः, स्वीकारः, ग्रहणम्) तस्मात् जाता'। 'जो

वीरपुरुषोंकी महती सेना रखता है', अथवा 'जो महान् योधाओंका विजेता है।' इस अर्थमें महाराज रन्तिदेवके अद्भुत विक्रमका परिचय मिलता है, जो सर्वथा असम्भव नहीं।

श्रीसाधुरामने एक अन्य सुझाव दिया है। 'सुरभि' (पृथिवी) 'तनया' (पुत्री)—खेती, उसका आलम्भ—यज्ञ। हर ऋतुमें होनेवाली खेतीकी समुचित रक्षा आदि करके 'पृथिवीकी कृषि संस्कृति ही गोमेध यज्ञ है।' यह सुझाव भी अच्छा है। सम्भव है कि महाराज रन्तिदेवने अपने यज्ञमय राज्यशासन कालमें चम्बल नदीके प्रदेशको परम उर्वरा और शस्यश्यामला बना दिया हो।"





शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०	१९	उत्तराखण्ड	उत्तरखण्ड
५१	१२	...स्तैनं सवने...	...स्तैनंऽसवने...
५१	१३	...नाशक इति...	...नाशकं इति...
६७	१६	क ही	एक ही
७५	३	खीरु	खीर
९५	चौथी आइटम	१.२४,५.६	१.२४.५,६
११२	अन्तिम	समपण	समर्पण
११३	२१	Vashishtha VI.6	Vasishtha IV.6
११३	२६	वशिष्ठधर्मसूत्र	वसिष्ठधर्मसूत्र
११६	१७	'वेदोंमें मधुपर्क ?'	'वेदोंमें मधुपर्क'
१४०	११	षास	पास
१४२	नीचेसे ६	अत;	अतः
१४३	७	there	therefore
१६२	३	हन्तुमर्हंति	हन्तुमर्हति
१६२	४	बालभेत्तु	बाऽऽलभेत् तु
१६२	५	म. भा. शान्ति पर्व अ०२६३	म.भा. शां. २६२.४७
१६२	नीचेसे दूसरी	४२	४३
१६३	१०	यजुर्वेद ३३.४८	यजुर्वेद २३.४८
१६३	नीचेसे छठी	अघ्न्ये	अघ्न्येयं
१६४	८	सूयक्साद्	सूयवसाद्
१६४	नीचेसे ८	यच्छन्त्वमृताः	यच्छन्त्वामृताः
१६६	नीचेसे ७	सत्वानि	सत्त्वानि
१६६	नीचेसे ६	स्वेदजन्युद्भिजानि	स्वेदजान्युद्भिदानि
१६७	६	सवथा	सर्वथा
१६९	१३	१.१५.४३;	११५.४३;
१७१	नीचेसे ५	वध्यते	वध्येत
१७३	शीर्षक दूसरी पंक्ति	गौका	वशा गौका
१७६	१३	सुपर्णं	सुपर्णं
१८४	१८	hasta-grabhan	hasta-grabhah
१८९	४	ऋषत्यवर्त्ति	ऋषत्यवर्ति
२०७	नीचेसे ४	Same Sastry	Sama Sastry


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसंधान केन्द्र
तिथि
पु० सं० 1922
भारती पुस्तकालय

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥

(महाभारत शान्तिपर्व २६५.९)

सुरा, आसव, मधु-मदिरा, मांस और मछली तथा तिल और चावलकी खिचड़ी—इन सब वस्तुओंको धूर्तोंने यज्ञमें प्रचलित कर दिया है। वेदोंमें इनके उपयोगका विधान नहीं है।

ती या कुछ
से में उनके
कोई रास्ता
होता भी है
है जिसे तय
होना पड़ता
ा हर व्यक्ति
, कोई ऐसा
तों की पैरवी
उपलब्धियाँ
मायने रखती
ऐसे समाज
ी जिसमें सब
ीब की इज्जत
ासन अपनी
तजार है ऐसे
ुन्दर नैतिकता
वना हो सके।
यौन शोषण,
न हो, जिसमें
अपने पाखंडों
ब तक सम्भव
सकों का अन्त

न' लेखिका-
- राजकमल,

यसवाल

और इनके कोषागार में इनकी सारस्वत साधना से उपार्जित कुछ काव्य-निधि भी है।

हम इसे इक्कीसवीं सदी के सुधीपाठकों का परम सौभाग्य मानते हैं कि पं. श्रुतिनाथ मिश्र जी की शिवसायुज्य प्राप्ति के पश्चात् उनके उत्तरजीवियों को स्व. मिश्र के निजी संग्रह में उनके विविध छायाचित्रों के साथ ही साथ उनकी सारस्वत साधना के ये अनमोल वाङ्मय चित्र भी मिल गये जिन्हें स्व. मिश्र जी ने सन् १९५५ ई. से १९६० के मध्य स्वयं निर्मित किया था और जिन्हें अब स्व. मिश्र जी के सुयोग्य उत्तराधिकारियों ने पितृव्य-सेवार्थ एवं लोकरञ्जनार्थ तुरन्त प्रकाशित कराके लोकार्पित कर दिया है।

स्व. पं. श्रुतिनाथ मिश्र जी के काव्य संकलन अन्तर्ध्वनि में वन्दना सहित कुल ६४ गीत, २१ गजल, २० मुक्तक, ५ मुक्तछन्द, ८ भोजपुरी गीत, तीन विषयों पर कवित्त तथा एक विषय पर सवैया छन्द में रची रचना संकलित है। इन रचनाओं में रचनाकार का वर्ण्य विषय मुख्यत: शृंगार है किन्तु कुछ रचनायें शान्त रस का आलम्बन लेकर भी रची गई हैं। काव्य सृजन में ध्यान देने योग्य बात यह होती है कि कविता में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाये तो

श्रुतिनाथ मिश्र

रहे हैं। प्रस्तुत संकलन स्व. मिश्र जी की छान्दस चेतना को दर्शाती है। यद्यपि स्व. मिश्र जी ने सवैया, कवित्त, चतुष्पदी एवं छन्दमुक्त रचनायें भी रची हैं तथापि आप के गीत अनुपम माधुरी से परिपूर्ण हैं। विशेषत: भोजपुरी भाषा में रचे गये आप के गीतों की मधुरिमा अत्यधिक हृदयाह्लादिनी है तथा इनमें गीति-काव्योचित सद्गुणों का अद्भुत समावेश है। आप के भोजपुरी गीतों में गीतों का स्वाभाविक एवं निखरा हुआ स्वरुप दृष्टिगोचर होता है-

मइल भिनुसहरा डोलल पछुआ बोलै लागल कागा।
अँधियारा मिट गइल रात कै
लगल सफेदी झाँकै।
रात भरे के बिछुरल चकई
लगल गगन में ताकै।
रैन बसेरा छोड़लस पंछी, चहकत नभ में भागा। (पृ. ११४)

स्व. मिश्र जी ने प्रणय-प्रसंगों को प्रस्तुत करने में कालिदास प्रभृति विश्वकवियों द्वारा प्रशस्त मार्ग का बखूबी अनुसरण किया है और मानवीय प्रेम के चित्रण में प्राकृतिक

को पावन पर्व महान की संज्ञा देते हुए एक राष्ट्रभक्ति पूरित ओजस्वी गीत भी लिखा है। स्व. मिश्र विरचित २१ गजलों की पंक्ति कहती है कि रचनाकार जरुर एक दानिशमन्द गजल गो रहा है और उसने गजलगोई के कायदों में बंधकर गजलें लिखी हैं-

जुल्फ के जाल में नजरों को फँसा लेते हैं,
हँसते हँसते वे मेरे दिल को चुरा लेते हैं।
हमको होता नहीं दीदार जो उनका हासिल।
देख तस्वीर को कुछ प्यास बुझा लेते हैं। (प्यास बुझा लेते हैं पृ. ८४)

संकलन की अन्य रचनाओं में मिलन बेला, कबतुमने आँसू पहचाना, खामोश नजारे, छलना, पतझड़ ही मुझको भाता है इत्यादि अनेक प्रभावशालिनी रचनायें हैं। संकलन को रचनाकार पं. श्रुतिनाथ मिश्र जी के पटना प्रवास के समय के उनके अनन्य मित्र सारस्वत पुरुष साहित्य वाचस्पति डा. श्री रंजन सूरिदेव जी ने अपनी गंभीर एवं वैदुष्यपूर्ण भूमिका से समलंकृत करके गरिमा प्रदान की है।

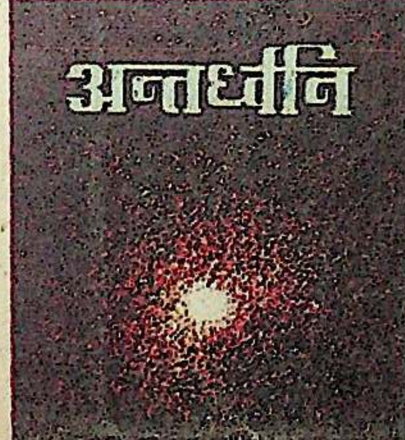
पुस्तक का नाम- 'अन्तर्ध्वनि'
रचनाकार- स्व. पं. श्रुतिनाथ मिश्र
प्रकाशक- सेवक प्रकाशन के. ६७/१३५ ईश्वरगंगी, वाराणसी
मूल्य- १५० रु. मात्र।

■ **डा. पवन कुमार शास्त्री**

मांगे जो वे हरिजन फण्ड के
कर रहे थे। मुझे लगा कि पाँच रु
के लिए ज्यादा हैं, किन्तु ब
खादीधारी सज्जन ने कहा कि
के हाथ पाँच रुपये के साथ का
टुकड़ा रख दिया और सोचने ल
में हस्ताक्षर देंगे। उनकी लि
होगी। परंतु मैंने देखा कि उन
'मो. क. गाँधी' लिख दिया
हुआ गाँव जाकर मैं किससे कहूँ
गांधी के हस्ताक्षर हैं। कोई
करेगा क्योंकि मेरे गाँव में
हिन्दी जानने वाला कोई न
गाँधी जी ने अपने अभि
'बहुत जल्द हिन्दुस्तान आ
रहा है। आजाद हिन्दुस्तान
हिन्दी होगी। इसलिए मैं म
युवकों से अपील करता हूँ
अभी से हिन्दी सीखना शु
हिन्दुस्तान के आजाद होते
भाषा में शासन का काम हो
का सपना था। परंतु स्वाधी
लगभग आधी रात पूरी होने
उनका सपना साकार न हो
दुर्भाग्य की बात है। इसी
मैंने हिंदी सीखी और हिन्द
की धारा मोड़ दी और वही हिंद

सन् २००५ ई. में जिस द्वितीय पुस्तक को प्रकाशित किया है उसका नाम 'अन्तर्ध्वनि' है। यह पुस्तक स्व. पं. श्रुतिनाथ मिश्र विरचित कविताओं का एक मनोरम काव्य संकलन है जिसमें इसी शीर्षक से कवि की एक मर्मस्पर्शी कविता भी संग्रहीत है। यहाँ समीक्ष्य ग्रन्थ का आरम्भ में ही एतादृश परिचय देने का कारण यह है कि संयोगवशात् इसी नाम से एक अन्य पुस्तक भी अभी हाल ही में प्रकाशित हुई है। अत: सुधी पाठकगण समीक्षा पढ़ते समय नाम-सादृश्य को लेकर भ्रमित न हों।

सन् १९९२ ई. में साहित्यिक संघ के पुनरुज्जीवित होने के दिन से यावज्जीवन संस्था के संरक्षक रहे साहित्यानुरागी पं. श्रुतिनाथ मिश्र (अब स्वर्गीय) अपनी युवावस्था के ५-६ वर्षों में पटना के बिहार राष्ट्रभाषा परिषद में कार्यरत रहे थे। इस अवधि में उन्होंने अपनी स्वरचित कविताओं के द्वारा एक संभावनाशील युवा कवि की ख्याति अर्जित कर ली थी तथा कवि सम्मेलनों में भी सक्रिय भागीदारी करने लगे थे। किन्तु एतत्पश्चात् न जाने क्या बात हुई कि वे काशी लौट आये और अपने शेष जीवन में उन्होंने अपने को काव्य जीवन से सर्वथा विरत कर दिया। यहाँ तक कि लोग यह बिल्कुल भूल गये कि



पुस्तक समीक्षा

भी व्यक्त करती हैं। कवि की रचनाओं में निहित ध्वनि श्रोता के अन्तस्तल तक पहुँचकर उस पर गहरा प्रभाव डालती है-

कुछ सुन-कुछ तो गाये जा तू।
जीवनदीप जलाये जा तू।
तू गाये तो धरती डोले।
युग की वाणी घूँघट खोले।
धरती में पड़े बीज ये
अपने अंकुर बंधन खोलें।
भाव क्षितिज पर स्वच्छ चाँदनी
सी आभा छिटकाये जा तू।
कुछ सुन कुछ गाये जा तू। (पृ. २६)

स्व. मिश्र जी छन्दों के चयन में भी निपुण

झिलमिल तारों के संग हँसती,
आज सजी है शशि की रानी
नभगंगा के कूल कगारों से
यह खेल रही मनमानी। (पृ. ३३)

इसी प्रकार स्व. मिश्र जी ने प्रकृति चित्रण में मानवीय सौन्दर्य बोध को भी आकर्षक ढंग से उपस्थित किया है-

यह वर्षा का पहला चुम्बन
मधुआलिंगन धरती का है।
धानी रंग की पहन चुनरिया
रुप बना दुलहिन सा है। (पृ. ६२)

स्व. मिश्र जी की कुछ शान्त रस प्रधान कविताओं की मार्मिक पंक्तियाँ इस प्रकार है-

दूर दुनिया से चला जब प्राण पंछी,
तब करे फिर चाह किसकी?
लुट गया वैभव यहीं पर
जल रहा सुनसान मरघट में अकेला
तब करे परवाह किसकी? (पृ. १८
चाल जब प्राणपंछी)
आस के ज्वलन्तगीत का मैं राग हूँ
राख हुआ फिर भी ज्योति का सुहाग
हूँ। (पृ. ४०)
हर जलने वाला दीपक कहता जाता
है,
अपने घर के जलते दीपक से प्यार करो
.नयनों का भींगा काजल हँसताकहता है,
अन्तर की पीड़ा को पहले स्वीकार करो,
...बेबस सी आती हुई गुहारें कहती हैं
पहले अपने भूलों का तुम प्रतिकार करो।।

जीवन को मोड़ दिया हो?

मेरा जन्म आन्ध्र प्रदेश के जिला कडवा गोल्लला गुडूर गाँव में १.७.१९२८ से एक मध्य वित्त कृषक परिवार में हुआ था। मेरी माता का स्वर्गवास मेरी चार वर्ष की उम्र में हुआ। मेरे पिताजी से अनुरोध किया गया, जोर डाला गया कि मेरी मौसी के साथ विवाह करें, लेकिन मेरे पिताश्री ने यह विचार कर दूसरा विवाह नहीं किया कि सौतेली माँ का व्यवहार न मालूम कैसा होगा।अत: पुन:विवाह न करके जो त्याग किया,इस कारण मेरी नजर में मेरे पिताजी भीष्म पितामह से भी महान प्रतीत होते हैं। उन्होंने मुझे बड़े लाड-प्यार से पालामेरी दादी का वात्सल्य मुझे भरपूर प्राप्त हुआ और नानी-चाचियों का भी। यह मेरे लिए अविस्मरणीय घटना है।

दूसरी घटना २१जनवरी १९४६ की है। महात्मा गांधी दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास की रजत जयंती का उद्घाटन करने पधारे थे। समारोह के पश्चात कई लोग महात्मा गांधी से हस्ताक्षर ले रहे थे,मेरे मन में भी यह विचार आया कि मैं भी उनके हस्ताक्षर ले लूँ, वे 'वारिस्टर' हैं,अंग्रेजी में हस्ताक्षर देंगे, मैं घर जाकर बता सकूँगा कि मैंने महात्मा गांधी जी के दर्शन किये हैं। इनका प्रमाण उनके ये हस्ताक्षर हैं और मैं इस कागज को फ्रेम में जड़वा कर अपनी घर की दीवार पर लटका दूँगा, यदि शिक्षित कोई मेरे घर